इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम.एच.डी.-6

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

आधुनिक साहित्य- I

4

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गांधी

IGNOU THE PEOPLE'S UNIVERSITY

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

—Indira Gandhi

एम.एच.डी-6
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

खंड

4

आधुनिक साहित्य-I

इकाई 12
आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि 5

इकाई 13
भारतेन्दु युग 22

इकाई 14
द्विवेदी युग 35

इकाई 15
छायावाद 48

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

पाठ लेखक	इकाई संख्या
डॉ. जवरीमल्ल पारख रीडर, हिन्दी विभाग इं.गां.रा.मु.वि.वि.	12
डॉ. हरदयाल रीडर, हिन्दी विभाग श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली	13,14
प्रो. निर्मला जैन भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	15

संपादक
प्रो. निर्मला जैन

पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गां.रा.मु.वि.वि.

सामग्री निर्माण

अश्वनी कौड़ा
उप कुलसचिव (प्रकाशन)
इग्नू, नई दिल्ली

सी.एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

नई दिल्ली

अप्रैल, 2008 (Reprint)

ISBN-81-266-0181-7

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. रेणु भारद्वाज, ***निदेशक मानविकी विद्यापीठ द्वारा*** *पुन : मुद्रित एवं प्रकाशित।*

Printed by : **TAN Prints (India) Pvt. Ltd., Haryana (India)**

खंड परिचय

'हिन्दी भाषा एवं साहित्य का इतिहास' पाठ्यक्रम का यह चौथा खंड है। इस पाठ्यक्रम में 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' को दो खंडों के अंतर्गत विभक्त किया गया है। प्रस्तुत खंड 'आधुनिक हिन्दी साहित्य-I' है। आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का संबंध देश की उन्नति, समाज की उन्नति और भाषा की उन्नति से गहरे रूप से जुड़ा है। उन्नीसवीं सदी से पहले भारतीय समाज राजनीतिक रूप से उस रूप में एक क्रमबद्ध नहीं था, जिस रूप में अंग्रेज़ी सत्ता के अधीन रहते हुआ। आधुनिक लेखकों और बुद्धिजीवियों ने इसी वजह से अपनी चिन्ताओं को देश की चिंता से जोड़ कर देखने और समझने की शुरुआत की। इस खंड में हम भारतेन्दु युग से छायावाद तक के साहित्य की चर्चा करेंगे।

खंड की प्रथम इकाई, इकाई सं०-12 आधुनिक कालीन साहित्य की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस इकाई में आधुनिक काल के उन नवीन परिवर्तनों की चर्चा की गई है जिसने आधुनिक हिन्दी साहित्य को नवीन दिशा एवं दृष्टि दी।

इकाई-13 तथा 14 क्रमशः 'भारतेन्दु युग' एवं 'द्विवेदी युग' से संबंधित हैं। भारतेन्दु युग में जहाँ ब्रजभाषा में साहित्य की रचना हो रही थी वहीं खड़ी बोली हिन्दी भी साहित्य की भाषा के रूप में स्थान ग्रहण कर रही थी। गद्य की अनेक विधाओं का जन्म भी इसी युग में हुआ। खड़ी बोली हिन्दी का आगे चलकर द्विवेदी युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जो परिमार्जन और परिष्करण किया उसकी चर्चा द्विवेदी युग की इकाई में की गई है।

इकाई 15 'छायावाद' से संबद्ध है। छायावाद आधुनिक हिन्दी काव्य की सबसे महत्वपूर्ण काव्य प्रवृत्ति है जिसने हिन्दी को जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत एवं महादेवी वर्मा जैसे महान रचनाकार दिए हैं। छायावाद राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के उस दौर की काव्य प्रवृत्ति है, जब हमारे देश में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन जनता की आकांक्षाओं का आन्दोलन बन रहा था और मध्य वर्ग में एक मानवतावादी, स्वच्छन्दतावादी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। आप इस इकाई में छायावाद के इतिहास, प्रवर्तन और प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

तो आइए, आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि से शुरुआत करें।

इकाई 12 आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिक काल
  12.2.1 प्रेस की स्थापना
  12.2.2 नये उद्योगों की स्थापना
  12.2.3 आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक वर्ग
  12.2.4 ब्रिटिश राजसत्ता से असंतोष
12.3 हिन्दी भाषा और गद्य का उदय
12.4 समाज सुधार और स्त्री-स्वातंत्र्य
  12.4.1 स्त्री शिक्षा का अभियान
  12.4.2 स्वधर्म चेतना का भाव
  12.4.3 समाज सुधार आंदोलन
12.5 देश भक्ति और राष्ट्रवाद का विकास
12.6 पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता
12.7 सारांश
12.8 प्रश्न/अभ्यास

12.0 उद्देश्य

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-6 की इस इकाई में आप आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन करेंगे। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ उन्नीसवीं सदी के मध्य से माना जाता है। यह काल भारतीय इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण है। 1857 की असफल क्रांति के बाद भारत में अंग्रेज़ी सत्ता पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। अंग्रेज़ी सत्ता की स्थापना और विस्तार के साथ एक नये तरह का भारत भी बन रहा था। सामंती भारत समाप्त हो रहा था तो औपनिवेशिक दासता के साथ पूंजीवादी समाज का भी निर्माण हो रहा था। अंग्रेज़ों ने जिस आधुनिक शिक्षा की शुरुआत की उसने भारत के नये बुद्धिजीवी वर्ग को अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य के बारे में सोचने को प्रेरित किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य का संबंध इन्हीं नये परिवर्तनों से है। आप इस इकाई में इस बारे में अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिक काल की पृष्ठभूमि जान सकेंगे;
- हिन्दी भाषा और गद्य के उदय से परिचित हो सकेंगे;
- आधुनिक काल के विविध समाज सुधार आंदोलनों की चर्चा कर सकेंगे;
- स्त्री स्वातंत्र्य के अंतर्गत चल रहे अभियानों को समझ सकेंगे;
- देशभक्ति और राष्ट्रवाद के विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- नवजागरण और आधुनिकता का स्वरूप जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-6 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' के चौथे खंड 'आधुनिक साहित्य-I' की पहली इकाई और पाठ्यक्रम की बारहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इससे पहले के तीन खंडों में आपने क्रमश: आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्येतिहास के बारे में अध्ययन किया था। इस चौथे खंड से आप आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन आरंभ कर रहे हैं। आधुनिक

साहित्य से संबंधित यह पहली इकाई है। इसी खंड में आगे आप तीन इकाइयाँ और पढ़ेंगे जिनमें क्रमश: भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद का अध्ययन करेंगे। इकाइयों के इस विभाजन को ध्यान में रखें तो कह सकते हैं कि इस इकाई में हमें आधुनिक साहित्य की उस पृष्ठभूमि को समझना है जिसने इस काल के सहित्य के निर्माण की परिस्थितियाँ पैदा कीं। दूसरे शब्दों में, आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में अध्ययन आरंभ करने से पहले यह जानना और समझना जरूरी है कि यह साहित्य किन परिस्थितियों में पैदा हुआ और इसकी सृजना के पीछे की प्रेरक शक्तियाँ कौन सी हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ उन्नीसवीं सदी के मध्य माना जाता है। उन्नीसवीं सदी भारतीय इतिहास में कई दृष्टियों से निर्णायक कही जा सकती है। आधुनिक से क्या तात्पर्य है? क्या यह सिर्फ काल का सूचक है या इसके साथ एक विशेष युग की अवधारणा जुड़ी हुई है जो प्राचीन और मध्य युग की अवधारणाओं से अलग है? जब भारतीय इतिहास के आधुनिक युग की शुरुआत होती है क्या तभी से हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की भी शुरुआत होती है या उससे अलग समय में? यहाँ यह भी सवाल विचारणीय है कि जब पश्चिम में आधुनिक युग का आरंभ हुआ क्या वही समय भारत में भी आधुनिकता का है? आधुनिकता पश्चिम की अवधारणा मानी जाती है, तो, क्या आधुनिकता की कोई भारतीय अवधारणा भी है? हिन्दी के खास संदर्भ में जब हम बात करते हैं तो यह प्रश्न भी पैदा होता है कि आधुनिक साहित्य किन अर्थों में अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न है? यह भिन्नता मुख्यत: साहित्यिक है या साहित्येतर?

आधुनिक युगीन हिन्दी साहित्य में हम कुछ स्पष्ट परिवर्तनों को देख सकते हैं। पहली बार साहित्य में गद्य में रचना होने लगती है और उसे केन्द्रीय महत्व प्राप्त होने लगता है। यही वजह है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसे गद्यकाल नाम देते हैं। ब्रज का स्थान खड़ी बोली ले लेती है और इस खड़ी बोली के दो रूपों को हम दो भिन्न भाषाओं - हिन्दी और उर्दू और उनकी अलग-अलग साहित्य परंपराओं के रूप में उभरता और विकसित होता हुआ देखते हैं। साहित्य में पहली बार वीर, भक्ति और श्रृंगार से इतर विषयों पर रचनाएँ होती हैं। कविता के साथ-साथ गद्य की कई नई विधाएँ हमारे सामने प्रकट होने लगती हैं। निबंध, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि से पहली बार हिन्दी पाठकों का साक्षात्कार होता है। लोकनाट्य रूपों से अलग समकालीन सवालों से जुड़े नाटक खेले जाते हैं और उसके लिए रंगमंच और रंग गतिविधियाँ आयोजित होने लगती हैं। इन नाटकों और इनके रंगमंच पर पाश्चात्य परंपरा का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। यही नहीं, स्वयं कविता की अंतर्वस्तु, छंद और भाषा में बदलाव आने लगता है और यह सवाल बहस का विषय बनने लगता है कि जब गद्य की भाषा खड़ी बोली है तो पद्य की भाषा का ब्रज में बना रहना कहाँ तक उचित है? लेकिन इन परिवर्तनों का संबंध किन बातों से था? क्या ये सिर्फ साहित्यिक परिवर्तन थे? क्या इनका संबंध साहित्यिक गतिविधियों और रूपों से ही था या ये परिवर्तन किसी अन्य महापरिवर्तन के हिस्से थे?

इस बात को समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि उस समय भारत में और खास तौर पर उत्तर भारत में किस तरह के परिवर्तन घटित हो रहे थे? आधुनिक काल, जिसकी शुरुआत रामचंद्र शुक्ल ने संवत् 1900 यानी सन् 1843 से मानी थी, उसका साहित्य के इतिहास में ही नहीं भारतीय इतिहास में भी क्या कुछ विशेष महत्व है? देशभक्ति और राजभक्ति, हिन्दू और मुसलमान, धर्म और राजनीति, वर्ण व्यवस्था और जातीय एकता, आर्य गौरव और गौ रक्षा, समाज सुधार और अतीत के प्रति गौरव की भावना, स्त्री की दशा और उसकी उन्नति, हिन्दी और उर्दू, आधुनिक शिक्षा और नयी टेक्नोलोजी जैसे कई नये प्रश्न तत्कालीन लेखकों और बुद्धिजीवियों के बीच बहस के मुद्दे बने हुए थे। यही नहीं उस समय के प्रमुख बुद्धिजीवियों, समाज सुधारकों, लेखकों ने कई ऐसे प्रयत्न भी किए जिसके कारण उस दौर को रिनेसां के दौर के रूप में जाना जाने लगा। इस रिनेसां को आधुनिक भारत की बुनियाद के रूप में ही नहीं राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की बुनियाद के रूप में भी देखा गया। उन्नीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य में ये राष्ट्रीय प्रश्न किस सीमा तक और किन रूपों में व्यक्त हुए हैं यह जानने से हम आधुनिक हिन्दी साहित्य की बुनियाद को समझ सकते हैं जिसने कि उसे दूसरी भारतीय भाषाओं से अलग और विशिष्ट बनाया। भले ही, यह विशिष्टता सदैव सकारात्मक और रचनात्मक नहीं रही।

प्रत्येक युग के साहित्य का संबंध उस युग की परिस्थितियों से बहुत गहरा होता है वह उस युग की परिस्थितियों को बनाने वाले प्रमुख कारकों में से एक होता है, साहित्य परिस्थितियों को प्रभावित भी करता है। जब तक हम इस संश्लिष्टता को ध्यान में नहीं रखते तब तक हम आधुनिक हिन्दी साहित्य को

समझने का सही परिप्रेक्ष्य नहीं विकसित कर सकते। इस इकाई के आगे के भागों में हमारी चर्चा इसी बात को ध्यान में रखकर होगी।

12.2 हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिक काल

आधुनिक काल में साहित्य में जो परिवर्तन हुए उसके कारण उस समय के समाज में निहित हैं, यह हम कह चुके हैं। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने इस परिवर्तन के तीन मुख्य कारण माने हैं। ये हैं : 1. भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना, 2. पश्चिमीय विचारों तथा भावों का आयात, और 3. अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव (तृतीय संस्करण, 1952)। सन् 1757 ई. में प्लासी की लड़ाई में अंग्रेज़ों की जीत ने भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना की नींव डाली। दिल्ली की मुगल सत्ता कमज़ोर पड़ चुकी थी। देश के विभिन्न भागों में स्वतंत्र सत्ताएँ स्थापित हो गई थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए इनको पराजित करना मुश्किल नहीं था। उनकी रणनीति यह रही कि वे एक प्रांत के शासक के विरुद्ध दूसरे प्रांत की मदद करते थे और बाद में उसे भी अपने अधीन कर लेते थे। इस प्रकार 1857 ई. तक उन्होंने भारत के काफी बड़े हिस्से पर अपना अधिकार कर लिया। 1857 ई. में हुए प्रसिद्ध विद्रोह में सामंती शासकों के अंतिम विरोध को भी कुचल दिया गया। लेकिन इसके साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर भारत का शासन सीधे इंग्लैंड की राजसत्ता के हाथ में आ गया।

12.2.1 प्रेस की स्थापना

लेकिन यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव इससे पहले पड़ना शुरू हो चुका था। वे क्षेत्र जो पहले से ही अंग्रेजों के अधीन आ गये थे, वहाँ ऐसे परिवर्तन होने लगे थे जो एक नये और आधुनिक भारत के निर्माण के सूचक बने। विद्वानों ने इस संदर्भ में दो बातों की तरफ खास तौर पर ध्यान दिया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस परिवर्तन को रेखांकित करते हुए लिखा है, "वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं, यातायात के समुन्नत साधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अंतर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने के अवसर कम पाती थीं। राजाओं की कृपा, विद्वानों की गुणग्राहिता, विद्यार्थियों के अध्ययन में उपयोगिता, इत्यादि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस होने से उसकी उपयोगिता बढ़ गई और विविध विषयों की जानकारी देने वाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबंध और कहानियाँ, सब प्रेस के प्रचार के बाद ही लिखी जाने लगीं। अब साहित्य के केंद्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गई। इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में, उसकी अभिवृद्धि में, और उसकी नई-नई शाखाओं के उत्पन्न करने में ही सहायता नहीं दी बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन में भी योग दिया'' (हिन्दी साहित्य-उसका उद्भव और विकास, पृ. 220)। द्विवेदी जी ने अपने इस ग्रंथ में इस बात को रेखांकित किया है कि पहले के राजा, नवाब और रईस लोगों की तरह अंग्रेजों ने साहित्य और कला के प्रोत्साहन के लिए कुछ नहीं किया। लेकिन दूसरे ढंग से उन्होंने "हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के उद्धार और उन्नयन का कार्य बड़ी ईमानदारी और मुस्तैदी के साथ किया''। स्वयं उनके शब्दों में, "इतिहास और पुरातत्व के शोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में, और नई-पुरानी भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन में यूरोपियन पंडितों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया'' (वही, पृ. 222)। उनका मानना है कि आगे के हिन्दी साहित्य के लेखन पर भी इसका बड़ा गहरा असर हुआ।

12.2.2 नये उद्योगों की स्थापना

अंग्रेज और दूसरी कई यूरोपीय जातियाँ भारत से व्यापार करने के इरादे से यहाँ आई थीं। औद्योगिक क्रांति से पहले तक भारत कई मामलों में यूरोप के देशों से उन्नत था और अठारहवीं सदी के मध्य तक भारत में बने हुए मालों का निर्यात ज़्यादा होता था। लेकिन उन्नीसवीं सदी में स्थिति में बदलाव आया। यूरोप में जो परिवर्तन हुए उसके कारण भारत अब उनके लिए कच्चा माल खरीदने और इंग्लैंड में बना माल बेचने का

बड़ा बाज़ार हो गया। इसके लिए उन्होंने योजनाबद्ध ढंग से भारत के परंपरागत उद्योगों को नष्ट किया। उसे कच्चा माल पैदा करने वाले एक पिछड़े देश में बदल दिया। ऐसा करने में उन्हें कामयाबी इसलिए मिल सकी कि वे देश के बड़े हिस्से पर अपना शासन स्थापित करने में सफल रहे थे। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की कामयाबी के पीछे भारत पर उनके शासन का गहरा योगदान था।

1857 के असफल विद्रोह से पहले ही भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी थी। ब्रिटेन के लिए रूई जैसे कच्चे मालों की अबाध आपूर्ति को पूरा करने के निमित्त भारत में उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेलवे की स्थापना की गई जिसके बारे में कार्ल मार्क्स का विचार था कि 'रेलवे का प्रादुर्भाव भारत में आधुनिक उद्योगों के आगमन का पूर्वसूचक है'' (ए.आर. देसाई की पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', संस्करण 1988, पृ. 27 से उद्धृत)। उन्नीसवीं सदी के मध्य में नील, चाय, काफी के क्षेत्र में कई उद्योग स्थापित हुए। सन् 1850 और 1855 के दौरान सूती कपड़ों के कारखाने, जूट की मिलें और कोयला खानों की स्थापना हुई। सन् 1879 में भारत में 56 सूती कपड़ा मिलें स्थापित हो चुकी थीं। सन् 1882 में जूट की बीस मिलें लग चुकी थीं और 1880 में 56 कोयला खदानें काम कर रही थीं। सन् 1880 से 1895 ई. के बीच हालांकि नये उद्योग कम लगे लेकिन इन उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ (वही पृ. 83-84)। इस पूरी प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए ए. आर. देसाई लिखते हैं, "भारत और अंग्रेजों के निरंतर वर्धनशील प्रभुत्व का इतिहास प्राक् ब्रिटिश भारत की सामंती अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपांतरण का भी इतिहास है, चाहे यह रूपांतरण अधूरा और विकृत ही क्यों न रहा हो। पुराने भूमि संबंधों एवं हस्तशिल्प उद्योग के ह्रास और उनकी जगह नये भूमि संबंधों और आधुनिक उद्योगों के उद्भव से ही इसका बड़ा घनिष्ठ संबंध है। अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व के विकास के साथ-साथ पुराने उद्योगों और भूमि व्यवस्था पर आधारित पुराने वर्गों का विनाश हुआ और नये भूमि संबंधों और नये उद्योगों पर आधारित नये वर्गों का उदय हुआ है। गांवों के समुदाय तंत्र (कम्यून) की जगह आधुनिक भूमिधर या जमींदार आविर्भूत हुए और ज़मीन पर उनकी निजी मिल्कियत कायम हुई। ब्रिटिश शासनकाल में स्थापित आधुनिक उद्योगों और आवागमन के साधनों के कारण नए वर्गों का जन्म हुआ, जैसे पूँजीवादी वर्ग, उद्योग धंधों और यातायात में लगे हुए मज़दूरों का वर्ग, खेतिहर मज़दूर वर्ग, काश्तकार वर्ग या वणिक वर्ग जो आधुनिक देशी-विदेशी उद्योगों द्वारा उत्पादित पण्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय में लगा था। भारत पर ब्रिटिश प्रभाव के कारण न केवल भारत की आर्थिक वरन् सामाजिक संरचना का भी रूपांतरण हुआ'' (वही, पृ. 27)। आधुनिक काल को हम भारत में अंग्रेजों के शासन से उत्पन्न स्थितियों के संदर्भ में ही देख और समझ सकते हैं। इसी ने उस संघर्ष को जन्म दिया जिसे हम राष्ट्रीय आंदोलन के नाम से जानते हैं और उस साहित्य को भी जो राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने वाला साहित्य कहा जा सकता है।

12.2.3 आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक वर्ग

इसी दौर में उस आधुनिक शिक्षा का प्रसार हुआ जिसने राष्ट्रव्यापी और सुधारवादी आंदोलनों पर गहरा असर डाला। भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार विदेशी ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश सरकार और प्रगतिशील भारतीयों के प्रयत्न से हुआ (वही, पृ. 112)। ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक ज़रूरतों के चलते आधुनिक शिक्षा का प्रसार किया। मैकाले जैसे अंग्रेज़ शासकों का विचार था कि अंग्रेज़ी शिक्षा के द्वारा भारतीयों को पूर्णतः पश्चिमी सभ्यता में रंगा जा सकेगा और उन्हें सदा के लिए राजभक्त बनाया जा सकेगा। लेकिन अंग्रेज़ शासकों की यह इच्छा एक हद तक ही पूरी हुई। इस शिक्षा ने एक सीमा तक ही भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता के विकृत रूपों में रंगा, उन्हें अंग्रेजों जैसा बनने की प्रेरणा भी दी। लेकिन यह शिक्षा धर्मनिरपेक्ष, उदारवादी और ब्रिटिश शासन से पहले की शिक्षा पद्धति के विपरीत जाति और धर्म का ख्याल किए बिना सर्वसुलभ थी (वही, पृ.126)। इस शिक्षा के प्रभाव को रेखांकित करते हुए ए.आर. देसाई लिखते हैं, "भारतीय राष्ट्रवाद ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक राष्ट्रीय आंदोलन का रूप लिया। उस वक्त तक देश में एक शिक्षित वर्ग तैयार हो गया था और भारतीय उद्योगों के उदय के साथ ही भारतीय आद्यौगिक बुर्जुआजी का भी जन्म हो चुका था। इन्हीं वर्गों ने राष्ट्रीय आंदोलन का संगठन किया और अपनी विरोधी पताका में निम्नांकित नारे लिखे, सरकार नौकरियों का भारतीयकरण, भारतीय उद्योगों के लिए सुरक्षा, वित्तीय स्वायत्तता आदि। आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश और भारतीय हितों के संघर्ष के कारण यह आंदोलन शुरू हुआ'' (वही, पृ. 127)।

इस आधुनिक शिक्षा ने उस बुद्धिजीवी वर्ग को पैदा किया जिसने राष्ट्रीय और समाज सुधार आंदोलन में न सिर्फ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई बल्कि उसका नेतृत्व भी किया। उन्होंने "राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावनाओं से ओतप्रोत संपन्न प्रादेशिक साहित्य और संस्कृति की सृष्टि की। इसके बीच से महान वैज्ञानिक, कवि, इतिहासज्ञ, समाजशास्त्री, साहित्यिक, दार्शनिक और अर्थशास्त्री उत्पन्न हुए। प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग ने आधुनिक पाश्चात्य जनतांत्रिक संस्कृति का स्वांगीकरण किया और नवजात भारतीय राष्ट्र की जटिल समस्याओं को समझा'' (वही, पृ. 157)। उन्नीसवीं सदी मध्य में सामने आने वाले हिन्दी लेखकों का संबंध इसी बुद्धिजीवी वर्ग से था।

इस बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाने के लिए कई तरीकों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कई राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठन बनाए, समाचार पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन किया और उनके जरिए लोगों में नई चेतना और नये विचारों का प्रचार-प्रसार किया। ए.आर. देसाई के शब्दों में, "भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में समाचार पत्र कारगर हथियार का काम कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार भारतीय राष्ट्रीयता की माँग पूरा नहीं करना चाहती थी, इसलिए समाचार पत्रों पर अंकुश लगाए रखना चाहती थी। अंग्रेज़ सरकार को कई प्रेस ऐक्ट बनाने पड़े। इसी से यह सिद्ध होता है कि समाचार पत्र राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में बहुत बड़ी भूमिका अदा कर रहे थे'' (वही, पृ. 183)। उन्नीसवीं सदी के हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका को हम इसी रोशनी में समझ सकते हैं।

उन्नीसवीं सदी में जो नया समाज बन रहा था, उसकी ज़रूरतें वही नहीं थीं, जो उससे पहले के समाज की थीं। इन नयी आवश्यकताओं की पहचान उस नये बौद्धिक वर्ग ने की जो उस दौर में उभर रहा था। उसने समाज में से पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं और आचरणों को समाप्त करने के लिए अनथक प्रयास किया। क्योंकि उनका विश्वास था कि इसके बिना राष्ट्र की उन्नति असंभव है। समाज सुधार के बारे में प्रबुद्ध वर्ग का दृष्टिकोण उदार, विवेकशील और लोकतांत्रिक भावनाओं पर आधारित था। जैसे, उन्होंने वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का विरोध किया। स्त्री की हीन-दशा से जुड़ी प्रथाओं को समाप्त कराने का संघर्ष किया जिनमें सती प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, बालिका वध आदि शामिल हैं। उन्होंने स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि का समर्थन ही नहीं किया वरन् इसके लिए संस्थाएँ भी स्थापित की।

12.2.4 ब्रिटिश राजसत्ता से असंतोष

1857 के विद्रोह की असफलता ने सामंती शासन की पुन: स्थापना का विकल्प हमेशा के लिए खत्म कर दिया था। लेकिन इसी दौर में परिस्थितियाँ नये ढंग से सामने आ रही थीं। जिसने 1870 के बाद नये राजनीतिक उभार को जन्म दिया और जिसकी परिणति 1885 में कांग्रेस की स्थापना में हुई। इस दौर की उस विशेष स्थिति पर रोशनी डालते हुए श्री देसाई लिखते हैं, "1857 के विद्रोह के परवर्ती काल में किसानों का असंतोष लगातार बढ़ता गया क्योंकि ब्रिटिश शासन में वे अधिकाधिक विपन्न होते गये थे। भूराजस्व और लगान के बढ़ते हुए बोझ का उन पर बड़ा बुरा असर पड़ा था। 1870 तक हस्तशिल्प और कारीगर उद्योग पूरी तरह खत्म हो गए थे जिसके चलते कृषि संकुलता बढ़ी। 1870 के कृषि संकट के फलस्वरूप किसानों की स्थिति और भी बुरी हुई और उनमें ऋणग्रस्तता बढ़ी। 1867 और 1880 के बीच कई अनर्थकारी दुर्भिक्ष पड़े। दूसरे अफगान युद्ध के वित्तीय बोझ और 1877 के असंयत, अतिव्यापी, भव्य और चमत्कारिक दिल्ली दरबार जिसमें विक्टोरिया को भारत साम्राज्ञी घोषित किया गया, के कारण लोगों का असंतोष और रोष बढ़ा ही, खासकर इसलिए कि यह दुर्भिक्ष और भुखमरी का जमाना था। फिर 1878 के वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट, जो भारतीय प्रेस की स्वतंत्रता पर रोक लगाने के निमित्त पारित किया गया था और 1879 के इंडियन प्रेस और आर्म्स ऐक्ट के कारण लोगों के असंतोष की ज्वाला प्रज्ज्वलित हुई'' (वही, पृ. 253)। राष्ट्रीय असंतोष की जिस भावना को इस दौर में डब्ल्यू.सी.बनर्जी, आर.सी.दत्त, दादा भाई नौरोजी, जस्टिस रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले आदि व्यक्त कर रहे थे, उसी असंतोष को अपने ढंग से भारतेंदु युग के लेखक भी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे।

राष्ट्रीय असंतोष को व्यक्त करने वाले इस प्रबुद्ध वर्ग के सामने यह साफ नहीं था कि वे देश को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराना चाहते हैं, बल्कि इसके विपरीत वे ब्रिटिश शासन को दैवीय वरदान मानते थे। वे देशोपकार और देशोन्नति की बात करते हुए कई अंतर्विरोधी भावनाओं से ग्रस्त थे। वे देशोन्नति की बात भी करते थे और महारानी विक्टोरिया के "सुशासन'' का जयनाद भी करते थे। वे समाज सुधार का पक्ष

लेते थे, लेकिन उनमें से कई प्राचीन भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की अवधारणा से अभिभूत भी थे। वर्ण व्यवस्था उन्हें अनुचित लगती थी और मानव समानता के आदर्श को वे स्वीकारने लगे थे, लेकिन उनमें से कई ब्राह्मण श्रेष्ठता, गौ रक्षा और मुस्लिम द्वेष के विचारों से भी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए थे। इस द्वंद्व के बीच ही इस आधुनिक दौर के हिन्दी लेखन की शुरुआत होती है।

आधुनिक दौर के हिन्दी साहित्य को समझने के लिए हमें इन परिस्थितियों को समझना तो ज़रूरी है ही इसके साथ ही हमें हिन्दी प्रदेशों की सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक स्थितियों को समझना भी ज़रूरी है। ये परिस्थितियाँ हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसे सवालों को पैदा करती हैं जिनका सामना दूसरे भाषाई लोगों को नहीं करना पड़ा था। इसमें सबसे बड़ा सवाल इस क्षेत्र की भाषा के स्वरूप का ही था। अब तक इस क्षेत्र में साहित्य या तो ब्रज और अवधी में लिखा जा रहा था या फिर फारसी और हिन्दवी में जिसे बाद में उर्दू के रूप में जाना गया। आधुनिक हिन्दी का संबंध किस परंपरा से था और खड़ी बोली से ही पैदा होकर हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएँ कैसे बनीं, इस मसले पर आगे हम किंचित विस्तार से विचार करेंगे।

12.3 हिन्दी भाषा और गद्य का उदय

हिन्दी साहित्य का इतिहास नामक अपनी पुस्तक में रामचंद्र शुक्ल आधुनिक काल की शुरुआत गद्य के विकास का परिचय देने से करते हैं। वे 'प्रकरण 1' का शीर्षक ही देते हैं : 'सामान्य परिचय : गद्य का विकास'। आधुनिक काल से पूर्व गद्य की अवस्था का उल्लेख करने के बाद वे 'खड़ी बोली का गद्य' का परिचय देते हैं (नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण सं. 2048; पृ. 222)। खड़ी बोली का गद्य उस समय उर्दू के रूप में भी मौजूद था और हिन्दी के रूप में भी। उर्दू के रूप में खड़ी बोली फारसी लिपि के संशोधित रूप में लिखी जाकर और फारसी-अरबी के शब्दों के बाहुल्य के साथ मौजूद थी और उसमें काव्य और गद्य दोनों लिखे जा रहे थे। जबकि यही खड़ी बोली नागरी लिपि में लिखी जाकर और संस्कृत के तत्सम रूपों के बाहुल्य के साथ हिन्दी के रूप में प्रचलित होने लगी। इस तरह एक ही भाषा दो अलग लिपियों में लिखी जाकर दो भिन्न साहित्य परंपराओं की वाहक बनी। सवाल यह था कि इस खड़ी बोली गद्य को आधुनिक हिन्दी के रूप में स्वीकार्य कैसे बनाया जाए जबकि इसी का एक अन्य रूप उर्दू भी मौजूद हो? यह ऐसी समस्या थी जिसका किसी भी अन्य भारतीय भाषा को सामना नहीं करना पड़ रहा था। हिन्दी को खड़ी बोली का स्वाभाविक विकास मानकर ही हिन्दी के विद्वान हिन्दी को उर्दू की जगह स्थापित कर सकते थे। ऐसा करने के लिए यह ज़रूरी था कि वे साबित करते कि उर्दू खड़ी बोली पर आधारित होते हुए भी उससे अलग है। इसके लिए उन्होंने उर्दू के शब्द स्रोतों को विदेशी करार दिया, उसे मौलवियों और मुंशियों की भाषा कहा और उसे विदेशी हमलावरों से जोड़कर अभारतीय भी साबित किया। ज़ाहिर है ऐसा करते हुए वे उर्दू-हिन्दी के सवाल को भाषा के दायरे से बाहर राजनीतिक दायरे में ले जाते हैं। यहाँ हमारे लिए स्वयं रामचंद्र शुक्ल के विचारों को जान लेना उचित होगा। वे कहते हैं, "खड़ी बोली का रूप रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमान दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ फैल रहा था। उसके प्रकार और उर्दू साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े लिखे विद्वान होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे" (वही, पृ. 227)।

रामचंद्र शुक्ल का यह कथन आधुनिक हिन्दी साहित्य की उस मुख्य समस्या पर प्रकाश डालता है जिससे यह मालूम पड़ता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं के सामने हिन्दी का सवाल किस रूप में मौजूद था। यह संयोग नहीं है कि उर्दू को मुसलमानों की भाषा और हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा मानने

का यह आग्रह सिर्फ भाषा तक ही सीमित नहीं था। यह उस दौर के दूसरे सवालों में भी प्रतिबिंबित हो रहा था। यह विचारणीय मुद्दा हो सकता है कि भाषा के संदर्भ में जो नजरिया व्यक्त हो रहा था वह उस दौर के प्रति उनके नज़रिए का ही प्रकटीकरण था या नहीं। इस सवाल पर हम इकाई में आगे विचार करेंगे। यहाँ यह देखें कि शुक्ल जी ने जो विचार पेश किये हैं क्या आधुनिक हिन्दी के आरंभिक निर्माता इस सवाल को इसी रूप में देखते थे?

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने शिक्षा आयोग के सम्मुख जो लिखित वक्तव्य दिया था उसमें उन्होंने इस बात का आग्रह किया था कि शिक्षा और राजकाज की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। अपने मत के समर्थन में विभिन्न तर्क देते हुए वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है और हिन्दी हिन्दुओं की। हालांकि वे मानते हैं कि "उर्दू-हिन्दी में कोई वास्तविक भेद नहीं है" (स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास - रामगोपाल) लेकिन वे यह भी कहते हैं कि "हिन्दुओं के परिवारों में हिन्दी बोली जाती है, उनकी स्त्रियाँ हिन्दी लिपि का प्रयोग करती हैं।" जबकि "उर्दू अदालती भाषा न रहे तो मुसलमान लोग पेशकारी, सरिश्तेदारी मोहर्रिरी आदि की अनेक सरकारी जगहों को जिन पर इस समय उनका लगभग एकाधिकार है, सुगमता से न पा सकेंगे" (वही, पृ. 98)। भारतेंदु इस बात पर खेद व्यक्त करते हैं कि सर सैयद अहमद खाँ हिन्दी को असभ्य ग्रामीणों की भाषा मानते हैं। लेकिन स्वयं उनकी नज़र में "उर्दू नर्तकियों तथा वेश्याओं की भाषा है" (वही, पृ.100)। उनके शब्दों में, "मुसलमानों की ज़बान तीक्ष्ण और रसीली तो होती ही है, वे अति उग्र और हठी भी होते हैं, यही कारण है कि वे अन्य लोगों को दबा लेते हैं" (वही, पृ. 98)। उर्दू के बारे में यहाँ जो नज़रिया भारतेंदु ने पेश किया है वह उस दौर के अधिकांश हिन्दी लेखकों का रहा है। उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलिम बुद्धिजीवी भाषा के मामले में बँटे हुए थे और वे सारे मामले को सांप्रदायिक नज़रिए से देख रहे थे। इसका असर दूसरे मसलों पर भी पड़ना स्वाभाविक था।

हिन्दी उर्दू का यह मसला काफी गंभीर था। इस मसले पर आगे बातचीत करने से पहले ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसको समझ लेना उचित होगा। इस मसले पर भारतेंदु से थोड़े पूर्ववर्ती राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने अपने लेख 'भाषा का इतिहास' पर विचार किया है। उनका मानना था कि आरंभिक मुस्लिम शासकों ने फारसी से भिन्न "प्राकृत" (सितारेहिंद का तात्पर्य उस देशी भाषा से था जो दिल्ली और आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी) को "हिंदवी" नाम दिया। ठीक यही मत भाषाविद् भोलानाथ तिवारी ने भी पेश किया है। उनके अनुसार मुसलमान फारसी से भिन्नता दिखाने के लिए अपनी भाषा को हिन्दवी (हिन्दुवी या हिन्द्वी) अर्थात् फारसी से भिन्न "भारतीय भाषा" कहते थे। यह हिन्दी कैसे अस्तित्व में आई इसके बारे में अपना मत रखते हुए सितारेहिन्द लिखते हैं कि "अब इस जबान को अर्थात् उस प्राकृत को जिसमें फारसी और अरबी मिली, हिन्दी कहो, चाहे हिन्दुस्तानी, भाषा कहो चाहे ब्रज भाषा, रेखता कहो चाहे खरी बोली, उर्दू कहो चाहे उर्दूएमुअल्ला इसके बीज तभी से बोये गए कि जब महमूद गज़नवी ने चढ़ाई की और मुसलमानों की इस मुल्क पर तवज्जुह हुई, आठ सौ बरस से ज़्यादा गुज़रते है।" शुक्लजी भी कमोबेश यही बात दोहराते हैं लेकिन वे एक ऐतिहासिक तथ्य को सांप्रदायिक नज़रिया देते नज़र आते हैं।

शुक्लजी खड़ी बोली के व्यापक व्यवहार की प्रक्रिया को उस मध्ययुग की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया के संश्लिष्ट रूप में देखने के बजाए हिन्दू और मुसलमान के बीच अलग-अलग प्रक्रियाओं के रूप में देखते हैं। इस मसले पर रूसी विद्वान बोरीस क्लूयेव के विचार को जानना भी उपयुक्त होगा। समग्र ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में खड़ी बोली के विकास को रखते हुए वे अपनी पुस्तक 'स्वतंत्र भारत: जातीय तथा भाषाई समस्या' में लिखते हैं, "यह मान लिया गया है कि साहित्यिक हिन्दी की बुनियाद खड़ी बोली है, जिसे अकसर दिल्ली-मेरठ क्षेत्र की बोली के रूप में परिभाषित किया जाता है। बोलचाल का यह रूप ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में निर्मित होना शुरू हुआ, जब हिन्दुस्तान के भूभाग पर से विजेताओं के कितने ही रेले गुजरे। दिल्ली विजेताओं द्वारा, जो ईरानी और तुर्की भाषाएँ बोलते थे और इस्लाम के अनुयायी थे, स्थापित राज्यों का प्रशासनिक, राजनीतिक और सैनिक केंद्र बन गयी। यहाँ नाना भाषाएँ बोलने वाले सैनिक समूहों और इसी प्रकार दस्तकारों, राजगीरों, व्यापारियों, महाजनों, सर्राफों, शायरों-कवियों और धर्म प्रचारकों - एक शब्द में, मध्ययुगीन नगरों के लाक्षणिक सभी सामाजिक समूहों का भी एक साथ जमाव होने लगा। यहाँ परदेशियों का, हिंदुस्तान के विभिन्न भागों से आयी स्थानीय आबादी के साथ गहन

अंत:मिश्रण हुआ। दिल्ली की सिर्फ भौगोलिक ही नहीं भाषाई लिहाज से भी बड़ी सुविधाजनक अवस्थिति है, जहाँ पंजाबी, राजस्थानी, बांगडू और ब्रजभाषा क्षेत्रों का संगम होता है। फलत: दिल्ली की जबान ने विभिन्न भाषाओं और बोलियों के प्रभाव को आगे चलकर आत्मसात् कर लिया। इस आत्मसात्करण ने ही आगे चलकर दिल्ली की स्थानिक भाषा, वहाँ की बोलचाल की जबान के बोलियोपरि स्वरूप को निर्धारित किया। इसके अलावा दिल्ली की बोली ने अपने विजेताओं की भाषाओं का प्रभाव अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक अनुभव किया है। अनुमान किया जा सकता है कि आरंभिक मंजिलों में अधिकतम सरलीकृत रूप में दिल्ली की जबान ने विजेताओं के लिए स्थानीय आबादी के साथ संसर्ग के साधन का काम किया'' (प्रगति प्रकाशन, मास्को; पृ. 88)।

अगर हम इस कथन पर विचार करें तो पाएँगे कि खड़ी बोली के बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया का संबंध उन नये शासकों के साथ साफ तौर पर जुड़ा हुआ है, जिनके शासन के दौरान नगर में रहने वाले सामाजिक समूहों के बीच संपर्क भाषा की ज़रूरत थी और इसमें न केवल उन विजेताओं की भाषाओं का योगदान था, जो बाहर से आए थे बल्कि उन क्षेत्रों के लोगों की अपनी बोलियों का योग भी था, जिन्होंने खड़ी बोली का अपनाया। यही नहीं इस विकास प्रक्रिया में ऐसा कोई विभाजन नहीं था कि हिन्दू व्यापारी इसे एक ढंग से विकसित कर रहे थे और मुस्लिम मुल्ला और मुंशी दूसरे ढंग से, जैसा कि शुक्लजी सिद्ध करना चाहते हैं। कम-से-कम अपने आरंभिक काल में तो खड़ी बोली का विकास सांप्रदायिक आधार पर नहीं हुआ था और अरबी-फारसी के घुलने-मिलने को ''विदेशी'' होना नहीं माना गया था।

अब हम उस दौर में हिन्दी-उर्दू भाषी क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न भाषाओं की स्थिति पर भी विचार करें। बोरीस क्यूलेव ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''खड़ी बोली कोई तीन सदी तक बोलचाल की भाषा बनी रही। प्रशासन और न्यायपालिका में फारसी का प्रयोग होता था। रूढ़िवादी हिन्दुओं के साहित्य, विज्ञान और सांस्कृतिक जीवन पर संस्कृत का प्रभुत्व था। दिल्ली के पश्चिम में राजपूत राजवाड़ों में वीरकाव्य की भाषा मारवाड़ी का एक मध्ययुगीन रूप डिंगल थी। नये सामाजिक विचारों के प्रचारक भक्तिमार्गी और सूफी ब्रज का व्यापक प्रयोग करते थे और खड़ी बोली की ओर वे बाद में जाकर ही मुड़े। अवध में राम के उपासक वैष्णव मुख्यत: अवधी का ही सहारा लेते थे'' (वही, पृ. 88)। क्लूयेव का यह कथन साफ बताता है कि अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में जब धीरे-धीरे खड़ी बोली इन सब भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों से हटाकर स्थापित हो रही थी, उससे पूर्व प्रशासन, साहित्य और आम बोलचाल के स्तर पर विभिन्न भाषाओं का इस्तेमाल हो रहा था। खड़ी बोली जो आम बोलचाल की भाषा थी वह मुगल फौजों, व्यापारियों और दस्तकारों के साथ-साथ पूरब में बंगाल तक पश्चिम में गुजरात, महाराष्ट्र तक और दक्षिण में गोलकुंडा और बीजापुर तक पहुँची (वही, पृ. 89)। अगर हम खड़ी बोली के फैलाव की बात कर रहे हैं तो हमें इन सब कारकों को ध्यान में रखना होगा। इनमें से किसी एक को चुनना और शेष को छोड़ना अनैतिहासिक है।

बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली के इस प्रसार का ऐतिहासिक महत्व यह है कि इसी ने वे स्थितियाँ पैदा कीं जिनके कारण मुगल दरबारों से जुड़े उन कवियों को खड़ी बोली में शायरी करने के लिए प्रेरित किया जो तब तक फारसी में ही रचना कर रहे थे। मुस्लिम शासकों की वजह से फारसी जो राजकाज की भाषा थी, आम जनता के बीच भले ही संपर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल न हुई हो, लेकिन फारसी, अरबी, तुर्की जबानों के शब्द ज़रूर जनता के बीच प्रचलित होने लगे थे। भक्तिकाल में ही ब्रज और अवधी में लिखने वाले कवियों की कविताओं में ऐसे शब्द मिल जायेंगे जो मूल रूप में इन्हीं विदेशी भाषाओं के हैं। यह प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक थी कि कबीर और जायसी ही नहीं सूरदास और तुलसीदास के काव्य में भी इसे देख सकते हैं। पारस्परिक प्रभाव का दूसरा रूप हमें उन मुस्लिम कवियों में दिखाई देता है, जो फारसी में कविता करते थे और जिन्होंने फारसी के साथ खड़ी बोली या ब्रज में कविता करना भी शुरू किया। अमीर खुसरो (मृत्यु: सन् 1324) इस तरह के कवियों की पहली महत्वपूर्ण मिसाल हैं। इस तरह खड़ी बोली में कविता लिखने की शुरुआत उन कवियों ने की जो फारसी में कविता लिख रहे थे, न कि उन कवियों ने जो ब्रज और अवधी में कविता लिख रहे थे। यह तथ्य इस बात से भी प्रकट होता है कि उन्नीसवीं सदी में जब गद्य के लिए खड़ी बोली को हिन्दी लेखकों ने स्वीकार कर लिया था तब भी काव्य

की भाषा ब्रज ही बनी रही और पूरे भारतेंदुयुग में ब्रज का ही काव्य भाषा के रूप में वर्चस्व बना रहा। गद्य और पद्य की भाषा का यह अंतर बीसवीं सदी के आरंभ में ही मिट सका जब हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग की शुरुआत होती है।

खड़ी बोली के संदर्भ में उर्दू-हिन्दी के इस विवाद पर बात को आगे बढ़ाने से पूर्व एक अन्य मुद्दे पर विचार करें। जब अंग्रेजों ने कचहरियों से फारसी को हटा दिया और उसकी जगह देशी भाषा का प्रचलन आरंभ किया तो उसके लिए खड़ी बोली को ही स्वीकार किया गया। दुर्घटना यह हुई कि इस नई जबान के लिए फारसी लिपि ही इस्तेमाल की गई। दूसरे शब्दों में, हिन्दुओं के लिए इसका मतलब था कि मुसलमानों की एक भाषा (फारसी) को हटाकर उनकी दूसरी भाषा (उर्दू) का वर्चस्व कायम करना। अदालतों की भाषा से फारसी का हटना स्वागत योग्य था क्योंकि फारसी जनता के किसी भी हिस्से की भाषा नहीं थी। यह सिर्फ मुट्ठी भर शासक वर्ग की भाषा थी और जब वह शासक वर्ग ही सत्ता में नहीं रहा तो उनकी भाषा कैसे रहती। लेकिन फारसी लिपि में लिखी जाने वाली खड़ी बोली का आना क्या उतना गलत था?

जब अंग्रजों का शासन हिन्दुस्तान के विभिन्न इलाकों में फैल गया और सन् 1836 ई. में एक आदेश द्वारा सरकार ने यह निर्णय लिया कि कोई भी व्यक्ति अपनी भाषा में सदर व बोर्ड में अर्जी दाखिल कर सकता है। यह अर्जी हिन्दी में हो सकती है और अच्छर (लिपि) नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। स्पष्ट ही सरकार का फैसला यह था कि भाषा हिन्दी हो और लिपि फारसी या नागरी में से कोई भी हो सकती है। यानी जिसे हिन्दी कहा गया था, वह दरअसल वह हिन्दी नहीं थी जो उर्दू के विरोध में बाद में हिंदी कही गई बल्कि यह वह हिंदी थी जो फारसी से अलग देशी भाषा थी और जिसे हिंदवी, हिंद्वी या हिन्दी नाम दिया गया था। नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाकर भी दरअसल वह एक ही भाषा थी। लेकिन ठीक इसी मुकाम पर वह विवाद शुरू हुआ जिसने एक भाषा जो दो लिपियों में लिखी जा रही थी और आम बोलचाल में जिसमें किसी तरह का फर्क नहीं था, उसे उर्दू और हिन्दी में बाँट दिया गया। यह बँटवारा सांप्रदायिक आधार पर हुआ था और इसके लिए जितना हिन्दू मध्यवर्ग जिम्मेदार था, उतना ही मुस्लिम मध्यवर्ग और इन दोनों से ज्यादा इस बँटवारे में अंग्रेजों ने भूमिका निभाई थी।

1836 ई. में जब अदालतों की भाषा खड़ी बोली को बनाया गया था और उसके लिए फारसी लिपि भी स्वीकार की गई थी, उससे लगभग तैंतीस साल पहले सन् 1803 ई. में फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के अंग्रेज अध्यापक गिल क्राइस्ट ने खड़ी बोली में पुस्तकें लिखने को प्रोत्साहित किया। लेकिन उन्होंने ये पुस्तकें फारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखवाई। नागरी लिपि में लिखने वालों ने अपनी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों के इस्तेमाल से बचने की कोशिश की तो दूसरी ओर फारसी लिपि में लिखने वालों ने अरबी-फारसी के शब्दों से अपनी भाषा को लादना शुरू कर दिया। इस तरह फोर्ट विलियम कालेज ने एक ही खड़ी बोली को लिपि और शब्द-भंडार के आधार पर उर्दू और हिन्दी में बाँट दिया। अंग्रेजों की इस कोशिश का मकसद शिक्षित और उच्चवर्गीय मुसलमानों और हिन्दुओं में खाई पैदा करना था। यह काम उस दौर में लगातार चलता रहा। गार्सा द तासी जैसे फ्रांसीसी विद्वान भी जो आरंभ में हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा मानते थे और अपने इतिहास ग्रंथ 'हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' में उर्दू और हिन्दी दोनों कवियों का उल्लेख किया था, बाद में यह कहने लगे कि हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है और उर्दू में इसलामी संस्कृति का (रामचंद्र शुक्ल द्वारा उद्धृत, पृ. 237-38)। अफसोसजनक यह था कि अंग्रेजों की इस चाल को न हिन्दू समझ पाए और न ही मुसलमान। खड़ी बोली को फारसी और नागरी लिपि में लिखा जाना गलत नहीं था क्योंकि ये दोनों लिपियाँ जनता के बीच चलन में थी। लेकिन इसी कारण उन्हें एक दूसरे के विरोध में खड़ा करना ज़रूरी नहीं था। यह एक खतरनाक बँटवारा था जिसने अपना प्रभाव सिर्फ भाषा तक सीमित नहीं रखा। वसुधा डालमिया का यह कथन बिल्कुल उचित प्रतीत होता है कि अरबी-फारसी से मुक्त होती हुई हिन्दी का हिन्दुओं की भाषा के रूप में उभरने से न सिर्फ मुसलमानों के लिए इसके द्वार बंद कर दिए, बल्कि इसके बढ़ते संस्कृतिकरण ने अनजाने ही, इसके और दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं के बीच ध्रुवीकरण का मार्ग भी प्रशस्त किया (दि नेशनलाइजेशन ऑफ हिन्दू ट्रेडिशन्स, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1996, पृ. 221)। हिन्दी से उर्दू को अलगाने की यह प्रक्रिया छायावाद के दौर में अपने चरम पर पहुँची जब हिन्दी पूरी तरह से संस्कृत की तत्सम शब्दावली से आक्रांत हो चुकी थी। इस प्रक्रिया को प्रेमचंद ही काफी हद तक रोके रहे।

उर्दू और हिन्दी के इस बँटवारे के प्रति आरंभ से ही कुछ लेखक और बुद्धिजीवी सहमत नहीं थे। शिवप्रसाद सितारेहिंद ने 'भाषा का इतिहास' नामक अपने लेख में इस तरफ संकेत किया। गांधी, नेहरू और प्रेमचंद ने हिंदी और उर्दू के बीच खाई को पाटने की भी कोशिश की। हिन्दी-उर्दू से अलग हिन्दुस्तानी की संकल्पना इसी कोशिश का परिणाम थी। गांधी ने 1909 में 'हिन्द स्वराज' में लिखा था, "भारत की सर्वग्राह्य भाषा हिन्दी होनी चाहिए, और वह इच्छानुसार नागरी या फारसी अक्षरों में लिखी जाए। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में निकटतर संबंध स्थापित करने के लिए दोनों लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी है'' ('स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास)। प्रेमचंद ने भी अपने निबंध 'हिन्दी-उर्दू की एकता' में यही सुझाव दिया है (साहित्य का उद्देश्य)।

12.4 समाज सुधार और स्त्री-स्वातंत्र्य

उन्नीसवीं सदी में समाजोन्नति के सवाल को हम स्त्री और दलित के संदर्भ में लेखकों और समाज सुधारकों की भूमिका से समझ सकते हैं। यहाँ भारतेन्दु युग के एक महत्वपूर्ण लेखक राधाचरण गोस्वामी के कथन को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। राधाचरण गोस्वामी ने 'यमलोक की यात्रा' नाम का व्यंग्य लेख लिखा। अपनी ही आकस्मिक मौत पर शोक व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं, "हा। न सारे हिन्दुस्तान में नागरी का दफ्तर और हिन्दी भाषा का प्रसार देखा। न विधवा विवाह प्रचलित हुआ। न विलायत जाने की रोक उठी। न जाति-पांति का झगड़ा मिटा। न सिविल सर्विस में भर्ती होकर हिन्दुस्तानियों को उच्च पद मिले। न हमारे जीते प्रेस ऐक्ट उठा। न लाइसेंस टेक्स का काला मूं हुआ। न लिबरलों की दया दृष्टि देखी। और हाय। न काबुल की लड़ाई का शुभाशुभ परिणाम मालूम हुआ'' (राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ, पृ. 27)। 1880 में लिखे गये इस निबंध में गोस्वामीजी ने अपनी उन सारी आकांक्षाओं को सूत्रबद्ध कर दिया है जो वे पूरी देखना चाहते थे। ये आकांक्षाएँ तीन तरह की हैं। पहली समाज सुधार संबंधी, दूसरी राजनीतिक और तीसरी हिन्दी संबंधी। समाज सुधार के संबंध में उनकी तीन इच्छाएँ व्यक्त हुईं हैं: 1. विधवा विवाह का प्रचलन हो, 2. विदेश यात्रा पर रोक हटे, और 3. जाति-पाँति का झगड़ा मिटे। इन तीनों का संबंध सिर्फ समाज सुधार से ही नहीं था, देश की उन्नति से भी था।

ध्यान देने की बात यह है कि न सिर्फ गोस्वामी जी बल्कि उस दौर के प्राय: सभी लेखक सामाजिक बुराइयों को मिटाने की बात कर रहे थे उसका कारण यह था कि वे इसी में देश की उन्नति देख रहे थे। वे स्त्री की दशा को देश की दशा के साथ जोड़कर देखते हैं। यहीं देश की उन्नति का सवाल तब सामने आता है जब वे चाहते हैं कि जाति-पाँति का झगड़ा मिटे। इसका कारण क्या था इसे हम तब अच्छी तरह समझ पाते हैं जब वे विलायत जाने पर रोक को हटाने के लिए तर्क देते हैं। इन लेखकों ने विलायत जाने का समर्थन इसलिए किया क्योंकि उन्हें यकीन था कि इससे भारतीयों को ज्यादा रोजगार मिलेगा, व्यापार में वृद्धि होगी, यूरोप के मशीनी ज्ञान को सीखकर उनको भारत में बनाना और भारत को भी इंगलैंड की तरह का औद्योगिक देश बनाना संभव होगा, अंग्रेजों की तरह उच्च शिक्षा प्राप्त कर उच्च पदों को प्राप्त करने की योग्यता हासिल कर वे भी उच्च पद हासिल कर सकेंगे। जैसा कि हम पहले ए.आर. देसाई के हवाले से बता चुके हैं कि यह उन बुद्धिजीवी मध्यवर्ग की महत्वाकांक्षा थी जो सीमित ही सही नये तरह के उद्योगों के स्थापित होने और नयी तरह की शिक्षा आरंभ होने से सामने आ रही थी। वे इस बात को समझ रहे थे कि यह भावना तभी लाई जा सकती है जब वे इस बात को समझें कि उनकी सामाजिक संरचना में बहुत कुछ ऐसा है जो दोषपूर्ण है और जिसे मिटाने की ज़रूरत है। इसी तरह वे अपने संकीर्ण जातिवादी दायरे में कैद रहकर देश के हित के लिए प्रयत्नशील नहीं हो सकते थे। इसके लिए शिक्षा के प्रसार की तो ज़रूरत थी ही, स्त्रियों के शिक्षित होने की भी ज़रूरत थी।

12.4.1 स्त्री शिक्षा का अभियान

राजा राममोहन राय से लेकर सर सैयद अहमद खां और भारतेन्दु तक उस दौर के तमाम भारतीय बुद्धिजीवियों ने शिक्षा के प्रसार पर अत्यधिक बल दिया। भारतेन्दु ने शिक्षा आयोग को दिए वक्तव्य में विस्तार से बताया है कि भारत को किस तरह की शिक्षा की ज़रूरत है और उसके लिए किस तरह के कदम उठाए जाने चाहिए। भारतेन्दु अपने वक्तव्य का आरंभ ही इस बात से करते हैं कि "अपने देश-वासियों के शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठाना, इस प्रांत की भाषा में सुधार करना, तथा इस भाषा में साहित्य-वृद्धि करना सदैव से मेरा ध्येय रहा है'' (स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास से उद्धृत,

पृ. 83)। भारतेन्दु विस्तार से बताते हैं कि क्यों शिक्षा के परंपरागत संस्थान वर्तमान में अप्रासंगिक हो गए हैं। शिक्षा के जिस मकसद को वे सर्वोपरि बताते हैं वह स्वाधीनता के भाव जगाना है। वे इस बात पर बल देते हैं कि इंगलैंड और यूरोप के लोग "सभ्यता से संबंधित सभी बातों में हमसे बहुत आगे हैं" (वही, पृ. 92) क्योंकि वहाँ प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है और शिक्षा के मामले सरकार के अपने हाथों में है। वे अगले पचास सालों तक शिक्षा को सरकारी मदद के साथ चलाने का सुझाव देते हैं। भारतेन्दु स्त्री शिक्षा के समर्थक थे और चाहते थे कि उनके लिए अलग से स्कूल खोले जाएँ। वे गाँव और शहर के लिए अलग-अलग किस्म की शिक्षा का सुझाव देते हैं।

शिक्षा के प्रसार के लिए उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों का बल कितना ज्यादा था इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उस दौर के आरंभिक गद्य साहित्य का मुख्य मुद्दा यही था। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड'(1826) के चार साल पहले बंगला में स्त्री शिक्षा के समर्थन और प्रचार हेतु श्री गौरमोहन विद्यालंकार ने एक पुस्तक 'स्त्री शिक्षा विधायक' (1822) के नाम से लिखी थी। बंगला में प्रकाशन के अगले साल सन् 1823 में इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषी बुद्धिजीवी कितनी तीव्रता से स्त्री शिक्षा के प्रसार की जरूरत महसूस कर रहे थे। पं. गौरीशंकर की रचना 'देवरानी जेठानी की कहानी' में ऐसी दो बहुओं की कहानी कही गई है जिसमें से एक शिक्षित है और दूसरी अनपढ़। यह हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है और इसकी रचना सन् 1870 में हुई थी। पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी की रचना 'भाग्यवती' जिसका प्रकाशन सन् 1877 में हुआ और जिसे शुक्लजी ने "सामाजिक उपन्यास" की संज्ञा दी है, हिन्दी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास माना जा सकता है। उसकी नायिका भाग्यवती भी एक शिक्षित स्त्री है और जो शिक्षित होने के कारण ही बिना किसी सहारे के जीवनयापन में सक्षम होती है और अपने पति के परिवार का संकट के समय नेतृत्व भी करती है। इस उपन्यास की रचना का मकसद ही यह है कि इससे लोगों तक यह संदेश पहुँचाया जा सके कि स्त्री के शिक्षित होने से घर-परिवार को कितना लाभ पहुँचता है? 1912 के पंचम संस्करण में यह सूचना भी प्रकाशित हुई है कि यह एक पाठ्य पुस्तक भी है जिसके लिखे जाने का मकसद स्त्री शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ बाल विवाह का विरोध करना, विवाह में फिजूलखर्ची पर रोक लगाना आदि है। इसी दौर में उर्दू के महान लेखक नज़ीर अहमद की रचना 'मिरातुल उरुस' में भी ऐसी दो बहनों की कहानी कही गई है जिसमें से एक शिक्षित है और दूसरी अशिक्षित। यहाँ भी शिक्षा स्त्री के लिए क्यों जरूरी है, इस पर बल दिया गया है। नज़ीर अहमद मुस्लिम समाज को आधुनिक समाज बनाने के पक्षधर थे। यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के शुरुआत के दो दशक बाद ही स्त्री शिक्षा के प्रति मध्यवर्ग में जागरूकता व्याप्त होने लगी थी। भारतेन्दु युग के लेखकों के योगदान के बारे में आप आगे की इकाई में पढ़ेंगे ही, यहाँ उसे लिखने की ज़रूरत नहीं है। खास बात जो यहाँ कहने की है वह यह है कि उस दौर के लेखकों ने लेखों और निबंधों के द्वारा ही नहीं बल्कि कहानियों और उपन्यासों के द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि स्त्री शिक्षा देश और समाज की उन्नति के लिए क्यों ज़रूरी है।

लेकिन सन् 1882 में प्रकाशित पुस्तक 'सीमंतनी उपदेश' स्त्री शिक्षा के ठोस परिणामों को हमारे सामने लाती है। यह पुस्तक पंजाब की एक शिक्षित महिला ने लिखी थी जिसने अपना नाम उजागर नहीं किया। हिन्दी जगत के सामने इस किताब को दोबारा लाने का श्रेय डॉ. धर्मवीर को जाता है जिन्होंने सन् 1988 में इसको पुन: प्रकाशित किया। यह पुस्तक इस बात का ठोस प्रमाण है कि शिक्षा ने स्त्री चेतना को किस सीमा तक बदला था। यह उन्नीसवीं सदी की भारतीय नारी की आजादी का घोषणापत्र कहा जा सकता है। यह स्त्री जाति की क्रांतिकारी चेतना का दस्तावेज है। उस समय की स्त्री जाति किस तरह के आर्थिक, सामाजिक और मानसिक बंधनों में जकड़ी हुई थी उसकी गहरी समझ ही इस अज्ञात महिला को नहीं है बल्कि वह इस बात को पूरे बल के साथ उजागर करती है कि पुरुष प्रधान समाज में किस तरह के दोहरे मापदंड प्रचलित है। वह एक ऐसे समाज की पक्षधर है जिसमें स्त्री और पुरुष के लिए एक से अधिकार और एक से कर्त्तव्य हों। वह उन महान पुरुषों का आदर के साथ उल्लेख करती है जिन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न किया और जो स्त्री को सदियों की गुलामी से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील रहे। इनमें राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद और भारतेन्दु भी शामिल है। इसके बावजूद किताब पढ़ने से यह जाहिर हो जाता है कि इसमें व्यक्त विचार एक स्त्री ही पेश कर सकती है। एक अर्थ में इसे हिन्दी की पहली नारीवादी रचना भी कहा जा सकता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि यह रचना लंबे समय तक अज्ञात रही और सौ साल बाद में इसे एक दलित लेखक द्वारा प्रकाश में लाया गया।

12.4.2 स्वधर्म चेतना का भाव

आधुनिक शिक्षा के प्रचार में उन ईसाई मिशनरियों का बड़ा हाथ था जो अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही भारत के विभिन्न प्रांतों में धर्म प्रचार के लिए काम करने लगी थीं। उन्होंने हिन्दी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं में ईसाई धर्म से संबंधित पुस्तकों का प्रकाशन किया। इसके लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रेस की स्थापना की। इन मिशनरियों ने स्कूल और कॉलेज खोले। उनके इन प्रयासों पर टिप्पणी करते हुए अपनी इतिहास पुस्तक में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि "कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचार कार्य का प्रभाव हिन्दुओं की जनसंख्या पर भी पड़ रहा था। अत: हिन्दुओं के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्म रक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिन्दू धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल में राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदांत का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खड़े हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े लिखे लोगों में से बहुतों के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जातिपांति, छूआछूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अत: इन बातों को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्तन करने के लिए 'ब्रह्मसमाज' की नींव डाली" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 233)। ईसाई धर्म के प्रचारकों के प्रभाव को हजारी प्रसाद द्विवेदी कुछ भिन्न ढंग से रखते हैं। वे लिखते हैं, "ईसाई धर्म के प्रचारक हिन्दू धर्म की तीव्र और कटु आलोचना कर रहे थे। इससे जहाँ एक ओर लोगों के चित्त में क्षोभ हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी कमजोरियों का ज्ञान भी हो रहा था। ईसाई धर्म प्रचारकों ने सती-दाह, कन्या वध आदि अनेक कुप्रथाओं का विरोध किया, और कानून बनाकर उनका उच्छेदन करा दिया था। इस तरह वे हिन्दू समाज का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से हित कर रहे थे। उनके खंडनों और कटाक्षों से शिक्षित हिन्दू अपने समाज और धर्म के विषय में सोचने को बाध्य हुए" (हिन्दी साहित्य - उसका उद्भव और विकास, पृ. 234)।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रामचंद्र शुक्ल ईसाई धर्म की प्रतिक्रिया को दो रूपों में देखते हैं। एक तो इस अर्थ में कि इससे हिन्दुओं में भी "स्वधर्म रक्षा की आकुलता" बढ़ी। दूसरे, उनमें नयी शिक्षा के प्रभाव में छुआछूत, मूर्तिपूजा, जातिपाँति और तीर्थाटन पर "अश्रद्धा" पैदा हो गई और इसके परिणाम स्वरूप वे इनसे भिन्न और ब्रह्म की उपासना पर ही बल देने वाले धर्म पर जोर देने लगे। इसके विपरीत द्विवेदी जी का बल इस बात पर है कि इससे हिन्दू अपने समाज में व्याप्त बहुत सी कुप्रथाओं के प्रति सजग हुआ और वह इस पर सोचने के लिए बाध्य हुआ। जाहिर है कि शुक्ल जी का बल सिर्फ हिन्दू धर्म की रक्षा और ईसाई धर्म के प्रहार के सामने उसकी रक्षा करने पर ही था। वे उन कुप्रथाओं पर मौन रहते हैं जिसकी ओर ध्यान दिलाने के कारण ही द्विवेदी जी ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया हित मानते हैं। शुक्लजी और द्विवेदी जी के नज़रिए में जो भिन्नता है वह हमें उस आरंभिक दौर के हिन्दी लेखकों में भी दिखाई देती है। यदि वे एक ओर इन कुप्रथाओं से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म पर होने वाले इन कथित प्रहारों से हिन्दुओं को सचेत भी करना चाहते हैं। इन दोनों तरह के सोच की सीमा यह है कि वे सिर्फ हिन्दू को नजर में रखती हैं और उन धर्मावलंबियों को भूल जाती हैं जिनका धर्म हिन्दू नहीं है। यही नही समाज सुधार और स्वधर्म रक्षा का यह पूरा अभियान भी सिर्फ सवर्ण हिन्दू की नजर से ही सामने आता है और जब जातिपाँति को मिटाने की बात होती है तो भी दलित उनकी नजर में नहीं रहता बल्कि द्विज वर्ण ही रहते हैं।

12.4.3 समाज सुधार आंदोलन

हिन्दी-उर्दू क्षेत्र में समाज सुधार के प्रयत्न को कुछ ऐसे तथ्यों की रोशनी में देखना होगा जो उसे दूसरे प्रदेशों से अलग करता है। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, केरल आदि भारत के विभिन्न प्रांतों में जो समाज सुधार आंदोलन चले उसको चलाने का श्रेय ऐसे महापुरुषों को था, जिन्होंने जनता के बीच जाकर यह काम किया और लोगों को इस कार्य के लिए एकजुट किया। लेकिन हिन्दी-उर्दू प्रदेशों में सैयद अहमद खां के सिवा ऐसा कोई महापुरुष उन्नीसवीं सदी में नहीं हुआ। सैयद अहमद खां का आंदोलन मुस्लिम समाज तक सीमित था और हिन्दी-उर्दू विवाद के संबंध में उनके रवैये के कारण प्राय: उनकी भूमिका को हिन्दी समाज में कभी भी अनुकरणीय नहीं समझा गया। हिन्दी समाज में सुधार का यह कार्य प्राय: लेखकों ने ही किया जिनमे भारतेन्दु सर्वोपरि थे। कुछ सीमा तक उन्होंने स्त्री शिक्षा आदि के लिए संस्थाएँ भी स्थापित की। लेकिन लेखकों की जो सीमाएँ होती हैं वे इनकी भी थीं।

हिन्दी के लेखकों पर बंगाल के ब्रह्मसमाज और गुजरात के आर्य समाज का असर पड़ा। इसमें भी बंगाल का असर सिर्फ शिक्षा के प्रसार तक ही सीमित था। इसके प्रभाव में आकर हिन्दी के लेखकों ने एक ओर पाठ्य पुस्तकों को तैयार करने की ज़रूरत महसूस की तो दूसरी ओर, उन्होंने देशी-विदेशी साहित्य को भी हिन्दी में अनूदित कर लोगों को नये विचारों से अवगत कराने का महत्वपूर्ण दायित्व निभाया। समाज सुधार संबंधी प्रेरणा उत्तर भारत में आर्य समाज से ही ग्रहण की। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती यद्यपि स्त्री शिक्षा के समर्थक थे, बाल विवाह के विरोधी थे और जातिपाँति का भी समर्थन नहीं करते थे। लेकिन वे दूसरे धर्मों के प्रति बहुत सहिष्णु नहीं थे। हिन्दी लेखकों पर आर्य समाज का प्रभाव इतना ही रहा कि उन्होंने आर्य समाज के नज़रिए से ही समाज सुधार का समर्थन किया लेकिन उस दौर में जो पुररुत्थानवादी उभार दिखाई दे रहा था, उसका गहरा असर हिन्दी लेखकों पर नज़र आता है। यह असर मुस्लिम द्वेष से मिलकर कुछ हद तक सांप्रदायिक रूप भी ग्रहण करता रहा है।

हिन्दी-उर्दू प्रदेशों में समाज सुधार आंदोलन की तीसरी सीमा यह थी कि इसमें समाज के दलित वर्ग की कोई भूमिका नहीं थी जैसी हम महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में देखते हैं। हिन्दी के लेखक समाज के जिस वर्ग से आ रहे थे, उस वर्ग की सीमा यही थी कि उसने अपने ही समाज के दलित वर्ग के बारे में कभी विचार करना ज़रूरी नहीं समझा। यही कारण है कि समाज सुधार के समर्थन में उन्होंने प्राय: धर्मग्रंथों को ही प्रामाणिक माना और उसी की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की। यदि वे अपने ही समाज के कथित पिछड़े वर्ग और मुस्लिम समाज के जीवन को देखते तो सती प्रथा, बालिका वध आदि के विरोध और विधवा विवाह के समर्थन के प्रमाण मिल जाते। जिस देशोन्नति के मार्ग में उन्हें जातिपाँति बड़ी बाधा नज़र आती थी, उसके लिए ज़्यादा व्यापक एकता तभी संभव हो सकती थी जब वे दलित और मुस्लिम समाज को साथ लेने की बात सोचते।

इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हिन्दी-उर्दू क्षेत्र में समाज सुधार का आंदोलन अपनी इन वैचारिक सीमाओं से उबर नहीं पाया। सच्चाई यह है कि एक गहरे द्वंद्व की स्थिति हमें उस दौर के लेखकों में साफ तौर पर नज़र आती है। इसे हम पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी तक में देख सकते हैं जिन्होंने अपने जीवन का आरंभ हिन्दू धर्म प्रचारक के रूप में किया लेकिन जीवन के अंतिम चरण में वे नास्तिक हो गए थे और धर्म की व्यर्थता समझने लगे थे। 'भाग्यवती' में वे स्त्री की शिक्षा का ही समर्थन नहीं करते बल्कि संकट पड़ने पर अपने पति से अलग अकेले स्वावलंबी बनकर जीवनयापन करने का सुझाव भी स्त्री को देते हैं। इसी तरह हिन्दुओं को आर्य और मुसलमानों और ईसाइयों को विदेशी समझने वाले राधाचरण गोस्वामी राजनीति में धर्म की दखलंदाजी का विरोध भी करते हैं। उन्ही के शब्दों में, "अब केवल धर्म के लिए प्राण देकर कुछ न होगा'' (राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ, पृ. 75) बल्कि उनके विचार में 'देशोन्नति के साधन, बिना किसी धर्म के विचार के होने चाहिए'' (वही, पं.75)। इसी तरह भारतेन्दु जो स्त्री शिक्षा के समर्थक होते हुए भी विधवा विवाह का समर्थन करने का साहस नहीं जुटा सके जिनके मुस्लिम द्वेष के प्रकोप से अकबर जैसा शासक नहीं बच सका (अपने बलिया वाले व्याख्यान में वे अकबर की प्रशंसा भी करते हैं), देश की उन्नति की भावना से प्रेरित होकर हिन्दू और मुसलमान की एकता का समर्थन करते हैं। प्रतापनारायण मिश्र भी जो हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान का जाप करने का आह्वान करते हैं हिन्दू और मुसलमान को देश की दो भुजाओं के रूप में देखते हैं। बालकृष्ण भट्ट ब्रह्मसमाज और आर्य समाज के प्रभाव के दौर में वेदों को ईश्वर निर्मित मानने से इन्कार करते हैं और उसे मनुष्य रचित ही मानते हैं।

12.5 देशभक्ति और राष्ट्रवाद का विकास

> भारतेन्दु की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :
> अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

उन्नीसवीं सदी की देशभक्ति को इस द्वंद्व के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। इन पंक्तियों की दो तरह से व्याख्या की जा सकती है। एक इस अर्थ में कि पहली पंक्ति और दूसरी पंक्ति दोनों में व्यक्त विचार से लेखक पूरी तरह सहमत है। वह सचमुच यह मानता है कि अंग्रेज राज के कारण वस्तुत: भारत देश का

बड़ा भारी हित हुआ है लेकिन इस राज की सबसे बड़ी खराबी यह है कि देश का धन विदेश चला जाता है। अंग्रेजी राज पहले के मुस्लिम शासकों से कितना भिन्न और अलग था यह भारतेन्दु और दूसरे लेखकों ने बराबर लिखा है। लेकिन दूसरी ओर वे इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि मुस्लिम शासक चाहे जितने बुरे क्यों न रहे हों, कम से कम देश का धन देश में ही रहता था। इस की दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि पहली पंक्ति तो सिर्फ एक रणनीतिक वक्तव्य है, खास बात जो भारतेन्दु कहना चाहते हैं वह यह है कि अंग्रेजी राज में देश का धन विदेश चला जाता है यानि कि अंग्रेज भारत को लूट रहे हैं और इस तरह भारत को बरबाद कर रहे हैं। कुछ अन्य पंक्तियों में वे अंग्रेजी शासन की ज्यादा तीखी आलोचना करते हैं और कहते हैं कि अंग्रेजी राज बाहर से चाहे जैसा भी क्यों न दिखता हो लेकिन वह देश का पूरा रस चूसने वाला है उसको भौतिक और आर्थिक रूप से नष्ट करने वाला है :

भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि के तन मन धन मूसे।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहिं अंग्रेज।।

भारत में अंग्रेजी राज के प्रति उस समय के बुद्धिजीवी वर्ग के रवैये को समझने के लिए यह समझना होगा कि उनका सन् 1857 के संग्राम के प्रति क्या रवैया था। इस संग्राम को इंग्लैंड में बैठे हुए कार्ल मार्क्स ने भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा था। लेकिन उस दौर के भारतीय बुद्धिजीवी और लेखकों ने अपवाद रूप में भी इसका समर्थन नहीं किया। हिन्दी लेखक प्रायः इस पर मौन दिखाई देते हैं और यदि वे इस पर कुछ कहते भी हैं तो उसको अनर्थकारी ही बताते हैं। वे भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना को दैवीय वरदान मानते हैं और यह उम्मीद जताते हैं कि महारानी विक्टोरिया के शासन के अधीन रहकर वे भी वैसी ही तरक्की कर सकेंगे जैसी इंग्लैंड कर रहा है। यही नहीं वे यह भी उम्मीद करते हैं कि जो अधिकार इंग्लैंड की जनता को मिले हुए हैं वही अधिकार भारत की प्रजा को भी मिलेंगे। यही आशा उन्हें अंग्रेजी राज का समर्थक बनाती है और वे अपने को राजभक्त घोषित करते हैं। यही नहीं, वे इस पर गर्व भी करते हैं। इस राजभक्ति को व्यक्त करने के लिए वे इससे पूर्व के मुस्लिम राज्य से उनकी तुलना भी करते हैं और साबित करते हैं कि अंग्रेजी राज क्यों पहले से श्रेष्ठ है। लेकिन यह आशा, आशा ही बनी रहती है। धीरे-धीरे उनका विश्वास हिलने लगता है, जब वे यह देखते हैं कि न तो सरकारी नौकरियों में भारतीयों को जगह मिल पा रही है, न ही उनकी उन्नति और प्रगति के लिए ठोस कदम उठाए जा रहे हैं। इसके विपरीत हर साल विभिन्न तरह के करों द्वारा भारतीय धन इंग्लैंड भेजा जा रहा है। हर साल अकाल पड़ रहे हैं। परंपरागत उद्योग धंधे चौपट हो रहे हैं, किसान बरबाद हो रहे हैं। हम इन सब बातों की चर्चा पहले कर आए हैं। यहाँ सिर्फ इतना कहना पर्याप्त है कि उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में इस बुद्धिजीवी वर्ग का मोहभंग होने लगा था और राजभक्ति की भावना धीरे-धीरे कम होने लगी थी। यह एहसास होने लगा था कि अगर भारत को भी उन्नत होना है तो खुद भारतीयों को आगे आना होगा।

जीवन के हर क्षेत्र में वे उन सब बातों को विस्थापित होता हुआ देख रहे थे जिनका संबंध भारत की परंपरा और जमीन से था। भारत में बना माल बाज़ारों से निष्कासित हो रहा था और उसका स्थान विदेशी माल ले रहा था। इसके कारण भारतीय उद्योग नष्ट हो रहे थे। भारतीय कारीगर बेकार हो रहे थे। इस बात ने उनको प्रेरित किया कि वे स्वदेशी की भावना को जगाएँ। भारतेन्दु युग के लेखकों द्वारा इस बात पर बल देने का कारण यही था। वे यह तो चाहते थे कि भारतीय आधुनिक मशीनी ज्ञान हासिल करे, लेकिन वे यह भी चाहते थे कि यह ज्ञान हासिल करके वे भारत में ही उद्योग स्थापित करें। जाहिर है कि इसके लिए भी लोगों को जाग्रत करने की जरूरत थी।

इन्हीं बातों से प्रेरित होकर भारतीयों ने कई तरह के संगठन स्थापित किए और उन संगठनों के माध्यम से उन्होंने एक ओर अंग्रेजी शासन के सामने अपनी माँग रखी तो दूसरी ओर उन्होंने भारतीयों में जागृति लाने का प्रयत्न भी किया। ज्यादातर ये संगठन क्षेत्रीय थे और उनका प्रभाव भी काफी सीमित था। इससे इस बात का एहसास बढ़ा कि एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना इसी मकसद से की गई। यद्यपि इसकी स्थापना के पीछे एक अंग्रेज अधिकारी ए.ओ.ह्यूम का हाथ था लेकिन जल्दी ही उसने उन भारतीय राष्ट्रवादियों को मंच प्रदान कर दिया जो अंग्रेजी सत्ता से भारतीयों के लिए अधिक अधिकारों की माँग कर रहे थे और जो यह मानते थे कि भारत में अंग्रेजी राज इंग्लैंड के अंग्रेजी राज से भिन्न है। सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी,. बदरुद्दीन तैयबजी, डब्ल्यू.सी.बनर्जी, रमेशचंद्र दत्त आदि आरंभिक राष्ट्रवादियों में से थे। यह आकस्मिक नहीं है कि कांग्रेस की स्थापना के साथ

ही उस समय के हिन्दी लेखक इस संगठन की तरफ आकर्षित हुए और उनमें से कई कांग्रेस में शामिल भी हो गये। राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र इनमें प्रमुख हैं जो लेखन के साथ-साथ कांग्रेस की गतिविधियों में भी सक्रिय रहे और अपने-अपने क्षेत्र में वे कांग्रेस के अग्रणी नेता रहे।

कांग्रेस की स्थापना के समय उसका नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में था जिन्हें नरमपंथी कहा जाता था और जो मानते थे कि अंग्रेजों से अपील करने पर वे हमारी बात मान लेंगे। लेकिन सदी के अंतिम दशकों तक ऐसे नेता उभरने लगे थे जो प्रार्थना की बजाए संघर्ष के मार्ग को ज्यादा उचित मानते थे। बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपत राय आदि नेता इस समझ के अनुसार कांग्रेस को संगठित करना चाहते थे। लेकिन इन नेताओं पर पुनरुत्थानवाद का प्रभाव था। वे समाज सुधार से ज्यादा भारत की आजादी को महत्व देते थे। यही नहीं कई मामलों में उनकी राष्ट्रवाद की परिभाषा धार्मिक संकीर्णतावाद से ग्रस्त होती थी। यह आकस्मिक नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के हिन्दी राष्ट्रवादी लेखक विचारधारात्मक रूप में तिलक की समझ के ज्यादा नजदीक थे। इसलिए उनमें उग्र राष्ट्रवाद तो दिखाई देता है लेकिन समाज को आधुनिक बनाने के मामले में वे बहुत दूर तक नहीं जाते। इसकी अभिव्यक्ति हम उस दौर के लेखन पर भी साफ तौर देख सकते हैं। भारतेन्दु के समकालीन पं. प्रतापनारायण मिश्र ने 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' नाम से एक पद्य रचना की थी जिसका आरंभ कुछ इस तरह होता है:

चाहौ जु सांचौ निज कल्यान
तौ सब मिलि भारत संतान
जपौ निरंतर एक जबान
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।

हिन्दी के संबंध की चर्चा हम विस्तार से कर आए हैं। हिन्दू की बात करते हुए इस दौर के लेखकों के सामने एक ओर स्वधर्म रक्षा का भाव रहता था तो दूसरी ओर वे गौ रक्षा और आर्य या हिन्दू परंपरा के प्रति गौरव का भाव जगाने की बात करते थे। लेकिन जब वे हिन्दुस्तान के कल्याण पर विचार करते थे तो उनके सामने कई तरह के अंतर्विरोध आ खड़े होते थे और तब वे हिन्दूवादी संकीर्णता से ऊपर उठने का प्रयास करते थे। आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य पर विचार करते हुए उस समय के हिन्दी लेखकों के इस सच्चे द्वंद्व को समझना जरूरी है (इस दृष्टि से अध्ययन के लिए देखें: सुधीर चंद्र की पुस्तक: दि आप्रेसिव प्रजेंट, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, संस्करण 1999)।

12.6 पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता

आधुनिक काल की पृष्ठभूमि को समझने के संदर्भ में इन तीन शब्दों का खास महत्व है। उन्नीसवीं सदी में जिन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों की शुरुआत हुई और जिनकी चर्चा हमने अब तक ही है, उनको विद्वान कई तरह से व्याख्यायित करते हैं। अंग्रेजी शासन की स्थापना ने भारत को ब्रिटिश सत्ता का उपनिवेश बना दिया। यह सत्ता स्थापित करने के क्रम में उनका संघर्ष यहाँ की उन सामंती शक्तियों से हुआ जो पहले से शासित थे। इस संघर्ष की अंतिम परिणति सन् 1857 के संग्राम में हुई और अंग्रेजी सत्ता को सामंती चुनौती हमेशा के लिए समाप्त हो गई। लेकिन क्या इसने भारत से सामंतवाद को पूरी तरह से समाप्त कर दिया? इतिहास हमें बताता है कि अंग्रेजों ने उन रियासतों को बने रहने दिया जो इस संग्राम के दौरान या तो उनके साथ थे या जो तटस्थ रहे। इस तरह देश के आजाद होने के समय भारत में पाँच सौ से ज्यादा देशी रियासतें मौजूद थीं। दूसरी ओर, अपना शासन मजबूत करने के क्रम में उन्होंने यहाँ एक नयी तरह की जमींदारी प्रथा का चलन किया जिसने गांवों की व्यवस्था को पहले से अधिक भूस्वामित्व के वर्चस्व में ला दिया। इस तरह भारत सामंतवाद से औपनिवेशिक काल में पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ।

लेकिन इसके साथ ही भारत में नये तरह के उद्योग भी स्थापित हुए। नयी तरह की शिक्षा प्रणाली आरंभ हुई। सरकारी कामकाज का योरोपीय ढाँचा आया। इस तरह भारत में अंग्रेजी राजसत्ता यदि एक ओर परंपरागत सामंतवाद और उद्योगों को नष्ट करने का कारण बनी तो उसने एक नये तरह के सामंतवाद को आरोपित भी किया। वह ऐसा पूँजीवाद लाने का जरिया बना जो पूरी तरह ब्रिटिश सत्ता की दया पर कायम था। लेकिन इस पूँजीवाद ने नये वर्गों को जन्म दिया। मध्यवर्ग और उसके एक हिस्से बुद्धिजीवी वर्ग के उदय की चर्चा हम कर चुके हैं। लेकिन इसके साथ ही यह भी याद रखने की जरूरत है कि इस

विकास ने भारत का अपना पूँजीवाद वर्ग भी पैदा हुआ और आधुनिक उद्योगों में काम करने वाला 'मजदूर वर्ग भी। ये दोनों वर्ग भी अपने-अपने हितों के लिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को प्रभावित कर रहे थे। भारत में पूँजीवादी राष्ट्रवाद के उदय को ही नहीं पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता के सवाल को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझना होगा।

आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने भारतीय बुद्धिजीवियों में दो तरह की प्रतिक्रियाएँ पैदा की। एक ओर यदि वे ज्ञानोदय के आधुनिक मानवतावादी विचारों के संपर्क में आए तो दूसरी ओर वे यह सोचने के लिए भी मजबूर हुए कि क्या भारत सदैव से ही ऐसा ही पिछड़ा और गुलाम देश रहा है। बहुत से अंग्रेज विद्वानों ने जिन प्राचीन भारतीय ग्रंथों की खोज की और उन पर प्रशंसात्मक लेखन किया उससे भारतीय भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके और उन्होने एक ऐसे प्राचीन भारत की कल्पना की जब भारत यूरोप से ज्यादा आगे बढ़ा हुआ और खुशहाल देश था। अतीत की ऐसी गौरवशाली कल्पना भारतीय मानस के लिए एक बड़ा बौद्धिक सहारा बनी। इस अतीत में उन्होंने उन सब बुराइयों से मुक्ति पा ली जो वर्तमान भारत में दिखाई देती है। इसने उनके आत्मबल को बढ़ाया। लेकिन इस सोच के लिए यह भी जरूरी था कि वे यह भी बताते कि आखिर भारत का पतन क्यों हुआ और क्यों वह पराधीन बना हुआ है? इस पतन के लिए उन्होंने उन मुस्लिम शासकों को जिम्मेदार ठहराया जिन्होंने उनके मंदिर तोड़े, उनकी स्त्रियों का अपमान किया और तलवार के बल पर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने को मजबूर किया। इस तरह इस पुनरुत्थानवाद ने यदि एक गौरवशाली अतीत की संकल्पना प्रस्तुत की तो एक ऐसा शत्रु भी दिया जिसको वे अपने पतन के लिए जिम्मेदार ठहरा सकते थे। इस पुनरुत्थानवाद ने तीसरा काम यह किया कि इसने एक ऐसा समूह पैदा किया जो यह मानता था कि यदि हम उस अतीत को वापस ले आते हैं तो हम अपने गौरव को पुन: पा सकते हैं। इस सोच का नेतृत्व आर्य समाज जैसे संगठन कर रहे थे और जो बाद में और अधिक उग्र तथा सांप्रदायिक रूप में उन हिन्दू संगठनों द्वारा सामने आया जो भारत को हिन्दू राष्ट्र के रूप में उभरता हुआ देखना चाहते थे। ठीक ऐसे ही अतीतवादी इस्लामी गौरव को हम मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के रूप में देख सकते हैं।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद की इस अवधारणा में यदि मुसलमानों और ईसाइयों के लिए कोई जगह नहीं थी तो पिछड़े समाजों के लिए भी कोई जगह नहीं थी। इसलिए यह सोच भारतीय राष्ट्रवाद की केंद्रीय विचारधारा नहीं बन सकता था। यही कारण है कि इस पुनरुत्थानवाद का विरोध दो तरह से हुआ। एक के अनुसार भारत के अतीत गौरव को ऐसे रूप में देखना जो विभिन्न संस्कृतियों के मेलजोल का प्रतीक है और इसी परंपरा को आगे ले जाने की जरूरत है। जहाँ सभी धर्म और सभी जाति के लोग मिलजुल कर रह सकें। दूसरे के अनुसार इस मिलीजुली सांस्कृतिक परंपरा में यकीन करते हुए भी एक ऐसे आधुनिक समाज को बनाने की जरूरत है जिसमें सभी मनुष्य बराबर हों और जाति, धर्म, लिंग, भाषा और क्षेत्र के अनुसार जिनमें किसी तरह का भेदभाव न किया जाए। यह विचारधारा उस ज्ञानोदय के प्रभाव से उपजी थी जो आधुनिकता का सही प्रतिनिधिन्व करता है। पुनरुत्थानवाद के विपरीत गांधी और नेहरू इन्हीं दो परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते थे। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता के इसी द्वंद्व से उपजा है। पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी और भारतेन्दु से लेकर प्रसाद, निराला और प्रेमचंद और बाद में प्रगतिशील आंदोलन को इन्ही विचारधारात्मक संघर्ष के प्रकाश में देखा और समझा जा सकता है।

12.7 सारांश

आधुनिक काल के साहित्य की पृष्ठभूमि के इस अध्ययन से आपके सामने यह साफ हो गया होगा कि वे कौन सी परिस्थितियाँ थी जिन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य के उदय को संभव बनाया। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ उन्नीसवीं सदी के मध्य से माना गया है, जब सन् 1857 की असफल क्रांति के बाद पूरे देश पर ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हो गई थी। अंग्रेजी सत्ता ने सामंतवादी सत्ता को समाप्त किया, भारत के परंपरागत उद्योगों को समाप्त किया और उसे अपने देश के उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति करने वाले और बने हुए माल के बाजार में बदल दिया। अंग्रेजों के शासन काल में रेल की स्थापना हुई और इसने पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव बनाया। इन नये परिवर्तनों ने नये तरह के वर्ग पैदा किए। पूंजीपति वर्ग, मजदूर वर्ग और नया मध्यवर्ग जिसमें वह बुद्धिजीवी वर्ग भी शामिल था जिसने बदलते भारत में अपनी भूमिका के लिए संघर्ष की शुरुआत की।

अंग्रेजों ने देश में नये तरह की शिक्षा भी आरंभ की। यह नयी तरह की शिक्षा परंपरागत शिक्षा से काफी भिन्न थी। यह धर्मनिरपेक्ष और उदारवादी तो थी ही, साथ ही यह बिना किसी भेदभाव के सबके लिए सुलभ भी थी। इस शिक्षा ने भारतीयों को नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया। उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ। और वे यह भी समझ पाए कि ब्रिटिश राजसत्ता भारतीयों के हित में नहीं बल्कि ब्रिटेन के सत्ताधारियों के हित के लिए है।

यह असंतोष कई तरह से व्यक्त हुआ और इसी ने उस राष्ट्रवाद को जन्म दिया। जिससे प्रेरित होकर आधुनिक काल का साहित्य लिखा गया।

आधुनिक काल की पृष्ठभूमि को समझने के लिए इस बात को समझना भी जरूरी है कि हिन्दी भाषा का उदय कैसे हुआ। जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि इस दौर में गद्य लेखन साहित्य लेखन के केंद्र में आ गया। यह गद्य लेखन खड़ी बोली में हुआ। यह खड़ी बोली दो लिपियों में लिखी जाकर हिन्दी और उर्दू के रूप में प्रचलित हुई। हिन्दी और उर्दू का विवाद आधुनिक काल के साहित्य का ऐसा प्रसंग है जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य को दूर तक प्रभावित किया। इसने उस सांप्रदायिक नजरिए के लिए जगह बनाई जिसका प्रभाव हम उस दौर के सोच और साहित्य दोनों पर देख सकते हैं। हिन्दी और उर्दू में एकता स्थापित करने का प्रयत्न उन लोगों ने किया जो हिन्दू मुस्लिम एकता को राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के लिए जरूरी मानते थे।

आधुनिक काल के साहित्य को उन समाज सुधार आंदोलनों के संदर्भ में भी समझा जाना चाहिए जिसका असर उस समय के हिन्दी बुद्धिजीवियों पर दिखाई देता है। इनमें आर्य समाज और बंगाल के नवजागरण का प्रभाव साफतौर से देखा जा सकता है। समाज सुधार के प्रभाव के कारण हिन्दी लेखकों ने स्त्री शिक्षा का समर्थन किया। बाल विवाह, सतीप्रथा, कन्या वध का विरोध किया। कुछ लेखकों ने विधवा विवाह का भी समर्थन किया। देशोन्नति के लिए वे जातिपाँति को भी बड़ा बाधा के रूप में देखते थे। लेकिन इसके साथ ही इस आंदोलन की सीमा यह थी कि इस पर हिन्दू पुनरुत्थानवाद का भी असर था। ईसाई धर्मप्रचारकों की प्रतिक्रिया में वे अतीत के गौरवगान, गौ रक्षा, प्राचीन ग्रंथों के महिमा मंडन आदि की ओर उन्मुख हुए। स्त्री शिक्षा का असर इस रूप में भी दिखाई देता है कि सदी के अंत तक हिन्दी में स्त्री लेखिकाएँ भी सामने आने लगी थीं।

औपनिवेशिक शासन के साथ अपने संबंधों और संघर्षों के दौरान ही भारत में राष्ट्रवाद का विकास हुआ। आरंभ में यह देश की उन्नति से प्रेरित था और यह मानता था कि अंग्रेजों का शासन भारत के लिए दैवीय वरदान है। लेकिन अंग्रेजों द्वारा भारत की लूट, भारतीय उद्योगों के विकास में उत्पन्न अवरोध, बार-बार पड़ने वाले दुर्भिक्ष ने भारतीयों को यह सोचने के लिए विवश किया कि यह शासन उनके हित के लिए नहीं है। पहले वे अपने लिए अधिक अधिकारों की माँग करते रहे। बाद में उसके लिए संगठित होकर संघर्ष करने की ओर बढ़े। इसी ने कांग्रेस की स्थापना के लिए जमीन तैयार की। कांग्रेस के साथ हिन्दी के लेखकों ने जुड़ाव महसूस किया और उनमें से कई लेखक कांग्रेस में सक्रिय रूप से कार्य करने लगे।

भारत के राष्ट्रवाद से प्रेरित हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर उस दौर की तीन प्रमुख विचार धाराओं का असर देखा जा सकता है। पुनरुत्थानवाद, नवजागरण और आधुनिकता के द्वंद्वात्मक प्रभाव से ही हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल आकार ग्रहण करता है। इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि को समझ सकते हैं।

12.8 प्रश्न/अभ्यास

1. आधुनिक काल में स्त्री-स्वातंत्र्य को लेकर उठाए गए कदमों की चर्चा कीजिए।
2. आधुनिक काल के विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों पर प्रकाश डालिए।
3. पुनरुत्थानवाद की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

इकाई 13 भारतेन्दु युग

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 नवजागरण और आधुनिक बोध
13.3 खड़ी बोली और साहित्यिक भाषा के रूप में उसका विकास
13.4 साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के उपयोग का प्रारम्भ एवं विकास
13.5 खड़ी बोली गद्य का विकास
    13.5.1 फोर्ट विलियम कॉलेज और खड़ी बोली का गद्य
    13.5.2 दो स्वाधीन गद्य लेखक
    13.5.3 खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का योगदान
    13.5.4 आर्य समाज की खड़ी बोली गद्य को देन
13.6 भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता और साहित्य
13.7 भारतेन्दु युगीन गद्य साहित्य
    13.7.1 नाटक
    13.7.2 निबन्ध साहित्य
    13.7.3 उपन्यास साहित्य
    13.7.4 अन्य गद्य विधाएँ
13.8 भारतेन्दु युगीन कविता
13.9 सारांश
13.10 प्रश्न/अभ्यास

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतेन्दु युगीन साहित्य का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है, तथा साथ ही इस युग के साहित्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है। भारतेन्दु युग से पूर्व, साहित्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली को पर्याप्त स्थान नहीं मिला था। खड़ी बोली जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी। धीरे-धीरे लेखकों ने भी इस भाषा में साहित्य रचना करना प्रारंभ कर दिया। इस इकाई के माध्यम से हम आपको खड़ी बोली और साहित्यिक भाषा के रूप में उसके विकास की जानकारी देंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- नवजागरण तथा आधुनिक बोध की संकल्पना से परिचित हो सकेंगे,
- साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के उपयोग के प्रारम्भ और विकास की चर्चा कर सकेंगे,
- खड़ी बोली गद्य के विकास की जानकारी दे सकेंगे,
- भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता, गद्य साहित्य, निबन्ध, उपन्यास तथा अन्य गद्य विधाओं से परिचित हो सकेंगे,
- भारतेन्दु युगीन कविता की विशेषताओं की जानकारी दे सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

भारतेन्दु युग आधुनिक कालीन हिन्दी साहित्य का पहला चरण है। अब इसका सर्व स्वीकृत नाम 'भारतेन्दु युग' है और यह नामकरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर किया गया है। इस नामकरण में भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं इस कालखण्ड के साहित्य को उनकी देन की स्वीकृत निहित है। भारतेन्दु का महत्व आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्राय: सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस प्रसंग में लिखा है :

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिभाषित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया और वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गये। ....इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाए।" (पृष्ठ. 412)

भारतेन्दु युग का प्रारम्भ कब से माना जाये, इस पर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में किंचित मतभेद है। आचार्य शुक्ल ने इसका प्रारम्भ संवत् 1900 अर्थात् 1843 ई. से माना है। इसमें संवत् 1900 को सीधा रखने के अतिरिक्त और कोई तुक नहीं है। इस युग को सर्वाधिक प्रभावित करने और हिन्दी साहित्य को आधुनिक बोध से जोड़ने वाले भारतेन्दु का जन्म 1850 ई. में हुआ था। इसलिए कुछ लोग इस पक्ष में हैं कि इसी वर्ष को भारतेन्दु युग का प्रारम्भ-वर्ष माना जाये। लेकिन यह मानना भी बहुत तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारतेन्दु ने जन्म लेते ही तो हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं कर दिया। फिर, यदि हम उनके जन्म-वर्ष को इस साहित्यिक युग का प्रारम्भ-वर्ष मानते हैं तो हमें उनके निधन-वर्ष 1885 ई. को इस युग का अन्त-वर्ष मानना चाहिए। ऐसा किसी ने नहीं माना है। इसलिए डॉ. बच्चनसिंह की यह बात समझ में आती है कि सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारम्भिक बिन्दु मानना चाहिए, क्योंकि हिन्दी भाषी क्षेत्र में ही नहीं, पूरे भारतवर्ष के इतिहास में यह वर्ष एक निर्णायक मोड़ उपस्थित करता है। यह भारत के स्वाधीनता -संग्राम की शुरुआत का वर्ष है। भारतेन्दु युग की अन्तिम सीमा 1900 ई. स्वीकार करना उचित होगा, क्योंकि इस वर्ष **नागरी प्रचारिणी सभा, काशी** के तत्वावधान में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका ने द्विवेदी युगीन हिन्दी के दिशानिर्देशन में, उसके व्यक्तित्व-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई।

13.2 नवजागरण और आधुनिक बोध

वैसे साहित्य में काल खण्डों की प्रारम्भिक और अन्तिम तिथियाँ विशेष सार्थक नहीं होतीं। साहित्य, भाषा विशेष के बोलने वालों की चेतना में आने वाले परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होता है। चेतना में यह परिवर्तन एकाएक किसी तिथि-विशेष को नहीं होता, वह धीरे-धीरे होता है। हिन्दी भाषियों में नवजागरण और आधुनिक बोध क्रमशः विकसित हुआ। इस बात पर बराबर बहस होती है कि उन्नीसवीं सदी में भारतीय जनमानस में जो परिवर्तन हुआ, यह अंग्रेजों की देन है अथवा नहीं। यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यदि अंग्रेजों के आगमन और उनके यहाँ शासक बनने ने भारतीय जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया। हमारे जीवन का हर पक्ष कहीं-न-कहीं अंग्रेजों के इस देश में आगमन से प्रभावित है।

अंग्रेजों के भारत में आगमन से भारतीय जन-मानस प्रभावित हुआ इसका सीधा-सा प्रमाण यह है कि इस देश के जिस भाग से उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ उसी भाग से भारतीयों में नवजागरण और आधुनिकता की चेतना का प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले अंग्रेजों ने सन् 1757 ई. में प्लासी की लड़ाई जीतकर बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमाया। ए.सी. सरकार ने इस वर्ष से बंगाल में मध्यकाल का अन्त और आधुनिक काल का प्रारम्भ माना है। 1818 ई. में महाराष्ट्र अंग्रेजों के अधीन हुआ। महाराष्ट्र में आधुनिकता का प्रारम्भ इसी वर्ष से माना जाता है। सन् 1856 में अवध अंग्रेजों के अधीन हुआ। अवध के अंग्रेजों के अधीन होते ही लगभग सारा भारतवर्ष उनके अधीन हो गया। लेकिन अगले ही वर्ष 1857 ई. में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह का सूत्रपात भी यहीं से हुआ। जिस क्रम से और जिन स्थानों से भारत पर अंग्रेजों का शासन स्थापित होना शुरू हुआ, उसी क्रम से और उन्हीं स्थानों से अंग्रेजी प्रशासन, शिक्षा-संस्थाएँ, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, समाजसुधार के आन्दोलन आदि का प्रारम्भ हुआ। कलकत्ता में 1800 ई. में 'ओरियण्टल सैमिनरी' की स्थापना की गयी, जो बाद में फोर्टविलियम कालेज कहलाया। इससे पहले 1780 ई. में कलकत्ता में 'कलकत्ता मदरसा' और 1791 में बनारस में 'बनारस संस्कृत कॉलेज' खोले गये थे। 1857 ई. में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों की स्थापना बहुत बाद में हुई। सबसे पहले राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' (1828 ई.) की स्थापना की और मूर्तिपूजा, जाति प्रथा, सतीप्रथा आदि का विरोध किया तथा विधवा-विवाह, स्त्रीशिक्षा, स्त्री-पुरूष की समानता अंग्रेजी शिक्षा आदि का समर्थन किया। महादेव रानाडे के द्वारा प्रार्थना-समाज' (1867 ई.) स्वामी

दयानन्द के द्वारा 'आर्यसमाज' (1867 ई.), 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' की भारतीय शाखा की अडियार (मद्रास, 1882 ई.) में स्थापना, स्वामी विवेकानन्द के द्वारा 'रामकृष्ण मिशन' (1897 ई.) की स्थापना बाद में हुई। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से एक भी संस्था की स्थापना न तो हिन्दी भाषी क्षेत्र में हुई और न किसी हिन्दी भाषी व्यक्ति ने की। जिस 'आर्य समाज' ने हिन्दी भाषी क्षेत्र को सबसे ज़्यादा प्रभावित किया, उसकी स्थापना गुजराती भाषी स्वामी दयानन्द ने बम्बई में की। यदि अंग्रेजों और अंग्रेजी प्रभाव की दृष्टि से देखा जाए तो 'आर्य समाज' समाज-सुधार के लिए स्थापित संस्थाओं में सबसे कम आधुनिक था।

इनके अतिरिक्त अंग्रेजों अथवा ईसाई मिशनरियों ने जो शिक्षा संस्थाएँ स्थापित कीं, उनके पीछे उनका स्वार्थ था। अंग्रेजी शासक शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से क्लर्क पैदा करना चाहते थे और ईसाई मिशनरी ईसाइयत फैलाना चाहते थे। पहले उन्होंने भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दिया और उन्हें शिक्षा का माध्यम बनाया, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि उनका स्वार्थ भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने से सिद्ध नहीं होगा। इसलिए 1835 ई. में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बना दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा और माध्यम का प्रारूप लॉर्ड मैकाले ने तैयार किया। उसके सामने लक्ष्य स्पष्ट था - **''हम भारत में पश्चिमी संस्कृति का प्रभुत्व तब तक स्थापित नहीं कर पाएँगे, जब तक भारतीय शिक्षा पद्धति से संस्कृत भाषा को पूरी तरह निष्कासित नहीं कर देते।''** (उद्धृत-निर्मल वर्मा, दूसरे शब्दों में, पृष्ठ 30) अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति से संस्कृत ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं को भी निकाल दिया गया। कमोवेश यह स्थिति आज भी है। विदेशी पुरातत्वविदों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को भी इसी उद्देश्य से खोजा। वे सिद्ध करना चाहते थे कि भारत का अतीत चाहे जैसा रहा हो, आज वे असभ्यता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए हैं। उन्हें सभ्य और सुसंस्कृत, पश्चिमी सभ्यता, शिक्षा-दीक्षा एवं जीवन-पद्धति का अनुकरण ही बना सकता है। शिक्षा की तरह ही रेल, सड़क, डाक-तार इत्यादि का अंग्रेजों ने पूरे देश में जो जाल बिछाया, वह भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही था। इनके माध्यम से उन्होंने भारत का खूब शोषण किया।

इन सबसे जागरण तो हुआ, लेकिन दो दिशाओं में। एक दिशा, मानसिक दासता और अंग्रेज भक्ति की थी। बंगाल में 19 वीं शताब्दी में एक ऐसी युवा पीढ़ी सामने आयी, जिसे हर भारतीय चीज़ से घृणा थी और हर अंग्रेजी वस्तु से प्रेम और उसके प्रति भक्ति थी। पालने में से ही बच्चे इंग्लैण्ड भेज दिये जाते थे, जिससे अपनी मातृ भाषा बंगला न सीख लें, अंग्रेजी सीखें और पूरी तरह अंग्रेज़ बनकर भारत लौटें। माइकेल मधुसूदन दत्त इस प्रवृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई मानसिक दासता की यह परम्परा आज भी विद्यमान है। चाहे प्रशासन हो, शिक्षा हो, व्यापार हो अथवा चाहे सभ्यता-संस्कृति ही, शिक्षित भारतीयों का बहुत बड़ा वर्ग आज भी यह अनुभव करता है कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। जागरण की दूसरी दिशा, मानसिक स्वाधीनता की थी। नये बने वातावरण ने भारतीय को मध्यकालीन जड़ता, तरह-तरह के अंधविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त किया। उन्हें इस अर्थ में आधुनिक बनाया कि वे लौकिक जीवन और उसकी समस्याओं को महत्व देने लगे, अपने स्वर्णिम अतीत पर गर्व करते हुए वर्तमान अधोगति को पहचानने लगे, विश्वास की अपेक्षा बुद्धि को महत्व देते हुए विभिन्न प्रकार के सुधारों में संलग्न होने लगे तथा नये को अपनाने में उनकी हिचक दूर हुई। उन्हें अपनी पराधीनता का बोध हुआ और उनमें राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। राष्ट्रीयता की भावना ने उन्हें अखिल भारतीय एकता का बोध कराया। अखिल भारतीयता का यह बोध जितना स्पष्ट और प्रखर हिन्दी क्षेत्र में था, उतना अन्य क्षेत्रों में नहीं। भारतेन्दु के बलिया वाले भाषण के इस अंश से यह बात स्पष्ट है- **''भाई हिन्दुओं! तुम भी मतमतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामन्त्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी, जिसमें तुम्हारे यहाँ बढ़ै, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहै, वह करो। देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फरासीस, अमेरिका को जाती है।''** (भारतेन्दु समग्र, पृष्ठ 103)

इस नवजागरण और आधुनिकता बोध की अनुगूँज हमें भारतेन्दु युगीन साहित्य में बराबर सुनाई पड़ती है।

13.3 खड़ी बोली और साहित्यिक भाषा के रूप में उसका विकास

हिन्दी भाषा और गद्य के उदय के संबंध में हमने इकाई 12 में विचार किया है। वहाँ हमने हिन्दी उर्दू के मसले पर भी विस्तार से चर्चा की है। यहाँ हम खड़ी बोली और साहित्य की भाषा के रूप में उसके विकास पर दृष्टि डालेंगे।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से आधुनिक काल को अलग करने वाला एक क्षेत्र यदि नवजागरण और आधुनिकता बोध का विकास है, तो दूसरा, महत्वपूर्ण क्षेत्र है साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति और विकास। विभिन्न कारणों से आधुनिक काल से पहले राजस्थानी, मैथिली, अवधी और ब्रजभाषा हिन्दी की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनीं। खड़ी बोली को तो आधुनिक काल में ही पहले गद्य की भाषा के रूप में और बाद में पद्य या काव्य की भाषा के रूप में स्वीकृति मिली। इसका अर्थ यह नहीं है कि खड़ी बोली आधुनिक काल में ही जन्मी। बोली या जनभाषा के रूप में वह भी उतनी ही पुरानी है जितनी हिन्दी क्षेत्र की अन्य बोलियाँ।

खड़ी बोली मूलतः दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाने वाली बोली है। इस का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से वैसे ही हुआ जैसे अन्य हिन्दी बोलियों का हुआ। खड़ी बोली पुकारी जाने से पहले यह हिन्दी, हिन्दवी या दक्खिनी हिन्दी के नाम से पुकारी जाती थी। सबसे पहले 1803 ई. में लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने इसे 'खड़ी बोली' कहा। 'प्रेम सागर' में उन्होंने लिखा - ''एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कन्ध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहा चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिए महराजाधिराज सकल गुण निधान, पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त की आज्ञा से संवत् 1860 में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्त्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले **यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की 'खड़ी बोली'** में कह नाम प्रेमसागर धरा।'' उसी वर्ष सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' के संबंध में लिखा-'' अब संवत् 1860 में 'नासिकेतोपाख्यान' को जिसमें चन्द्रवती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिए **खड़ी बोली** में किया।'' इसका नाम खड़ी बोली क्यों रखा गया और उसका अर्थ क्या है, इस पर बहुत विवाद रहा है, इसकी चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

भारतेन्दु युग में साहित्यिक गद्य की भाषा के रूप में स्वीकृति पाने से पूर्व ही खड़ी बोली लगभग अखिल भारतीय स्तर पर पारस्परिक आदान प्रदान की भाषा के रूप में प्रसार पा चुकी थी। नाथपन्थी जोगियों के माध्यम से यह राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में फैली। दक्षिण और महाराष्ट्र के महानुभाव और वारकरी आदि पंथों के सन्तों ने इसका दक्षिण में प्रचार किया। कबीर पंथियों और सिक्खों ने इसे अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में प्रचारित किया। बारहवीं शताब्दी में यह बरार, हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर आदि क्षेत्रों में प्रचलित हो गयी थी। दक्षिण में इसके प्रचार का श्रेय मुसलमानों को जाता है। अलाउद्दीन ख़िलजी के समय से मुसलमानों ने दक्षिण के जिन-जिन राज्यों को जीतकर अपना शासन स्थापित किया, वहाँ-वहाँ शासन-प्रबन्ध, बोलचाल और पारस्परिक व्यवहार की भाषा के रूप में खड़ी बोली का उपयोग किया। दक्षिण में सन्तों और मुसलमानों के सम्मिलित प्रभाव से इसका जो स्वरूप विकसित हुआ वह 'दक्खिनी'' कहलाया। दिल्ली के आसपास के व्यापारी भी इसे बाज़ार की भाषा के रूप में भारतवर्ष के विभिन्न भागों में ले गये। अखिल भारतीय स्तर पर जितना प्रचार-प्रसार खड़ी-बोली का हुआ उतना हिन्दी की किसी अन्य बोली या विभाषा का नहीं हुआ। व्यवहार की माध्यम भाषा के साथ-साथ यह धर्म, शासन, व्यापार और साहित्य की भाषा के रूप में भी विकसित हुई।

13.4 साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के उपयोग का प्रारम्भ एवं विकास

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व खड़ी बोली का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग नगण्य है। नाथों, महानुभाव पंथियों, वारकरियों और कबीरपंथियों आदि ने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली का जो उपयोग किया है, उसके पीछे प्रेरणा धर्म की है, न कि साहित्य की। यह अलग बात है कि इनमें से कुछ की रचनाएँ

साहित्यिक महत्व पा गयीं। लेकिन खड़ी बोली को साहित्य के माध्यम के रूप में विकसित करने में इनका योगदान अवश्य स्वीकार करना होगा। सचेत रूप से साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली का उपयोग अमीर खुसरों ने किया। उन्होंने अपनी पहेलियाँ, मुकरियाँ और कविताएँ खड़ी बोली में लिखीं, लेकिन उनकी रचनाओं में खड़ी बोली का जो रूप आज मिलता है, यह वही है जिसका उपयोग खुसरों ने किया था, इस पर सन्देह प्रकट किया जाता है। सन्त कवियों की साखियों के अतिरिक्त, मीरां, माधोदास, रहीम, नरहरि, गंग, सूदन, कुलपति, आलम, शेख, भूषण, नागरीदास, ग्वाल, घनानंद, बेनी इत्यादि कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र खड़ी बोली के साहित्यिक भाषा के रूप में उदाहरण मिलते हैं। दरअसल भारतेन्दु से पहले खड़ी बोली का साहित्यिक भाषा के रूप में उपयोग दक्खिन के कवियों और गद्यकारों ने किया। कवियों में गेसूदराज, मुहम्मद कुलीकुतुबशाह, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि ने जिस भाषा में अपनी कविताएँ लिखी हैं, वह मूलत: खड़ी बोली है जिस पर अरबी-फारसी, मराठी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। सन् 1700 के बाद इस दक्खिनी हिन्दी का अरबी-फारसीकरण किया जाने लगा और बाद में इसे उर्दू घोषित किया गया। दक्खिनी हिन्दी गद्य के लेखकों ख्वाजा बन्देनवाज गेसूदराज, शाह मीराजी, शाह बुरहानुद्दीन, अब्दुस्समद, मुहम्मद वली उल्ला कादरी, अबिदशाह अलहसन-उल-हुसेनी इत्यादि की गद्य रचनाओं की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही है। उसमें लेखकों के मुसलमान होने और गद्य रचनाओं में सूफी मत के निरूपण आदि के कारण अरबी-फारसी का पुट अवश्य है, लेकिन इतना नहीं कि उसे हिन्दी न कहा जा सके।

यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली की यह प्रारम्भिक अवस्था है, लेकिन हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करने में इसका योगदान अवश्य रहा है।

13.5 खड़ी बोली गद्य का विकास

भारतेन्दु से पूर्व खड़ी बोली गद्य के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, इत्यादि के राजकाज और पत्रव्यवहार आदि में मिलने वाले उदाहरणों के अतिरिक्त पुस्तकों के रूप में रची गयी गद्य-रचनाएँ या तो दक्खिनी हिन्दी में मिलती है या ब्रज आदि विभाषाओं से प्रभावित खड़ी बोली में। दक्खिनी हिन्दी के पहले गद्य-लेखक ख्वाजा बन्देनवाज गेसूदराज ने पन्द्रहवीं शताब्दी के दूसरे दशक में सूफी सिद्धान्तों का परिचय देने के लिए 'मेहराजुल आशकीन' की रचना की। इसकी भाषा में अरबी फारसीपन अधिक है। इनके बाद शाह मीराजी की 'मरकूबुल कलूब' शाहबुरहानुद्दीन की 'कलमतुल हकायत' में भी सूफ़ी सिद्धान्तों का विवेचन है। इनकी भाषा गेसूदराज की भाषा की अपेक्षा अधिक सहज, स्वाभाविक और सरल हिन्दी है। अब्दुस्समद के 'तफसीरे बहानी' में, मुहम्मद वली उल्ला कादरी के 'मारफत-उलसलूक' में भाषा का झुकाव अरबी-फारसी रहित हिन्दी की ओर है। वजही की रचना 'सबरस' (1620 ई.) की भाषा में न केवल अधिक हिन्दीपन है बल्कि अत्यधिक परिष्कृति और स्पष्टता भी है। इसका गद्य अत्यन्त प्रवाहपूर्ण एवं सरस है। खड़ी बोली को गद्य के रूप में विकसित करने में इन रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व है।

दक्खिनी हिन्दी से भिन्न खड़ी बोली में उन्नीसवीं शती से पूर्व गिनीचुनी गद्य रचनाएँ मिलती हैं। इनमें सबसे पहले रचना अकबर के समकालीन गंग कवि रचित 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' मानी जाती है। इसमें खड़ी बोली के कतिपय अर्वाचीन प्रयोगों के कारण इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह किया जाता है। इसके बाद की गद्य-रचना जटमल-रचित 'गोरा-बादल की कथा' (1623 ई.) है, जिसकी खड़ी बोली राजस्थानीपन, लिए हुए है। भक्तिकाल में इन रचनाओं के अतिरिक्त मिलने वाली गद्य-रचनाओं 'कुतुब शत' (1613 ई.) 'भोगुल पुराण' (1705 ई.), 'गेनेश गोसठ' (1658 ई.) एवं 'पोथी सचुषण्ड' (1640 ई. के पूर्व) की खड़ी बोली में राजस्थानी, ब्रजभाषा और पंजाबी का मिश्रण बहुत अधिक है। रीतिकाल में खड़ी बोली गद्य की अनेक मौलिक एवं अनूदित रचनाएँ मिलती हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण रचना रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा-योगवाशिष्ट' है। इसी श्रेणी की रचना पं. दौलतराम द्वारा अनूदित रविषेणाचार्य का 'भाषा - पद्मपुराण' (1766 ई.) है। इसी वृत्ति के आसपास की रचना 'मण्डोवर का वर्णन' है जिसका रचनाकार अज्ञात है। इन गद्य रचनाओं का महत्व भी ऐतिहासिक ही है। इनमें खड़ी बोली, गद्यमार्ग पर डगमग चरण रखती हुई देखी जा सकती है।

13.5.1 फोर्ट विलियम कॉलेज और खड़ी बोली का गद्य

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों को शिक्षा, भाषा-ज्ञान और सदाचरण सिखाने के उद्देश्य से कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गयी। गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वे रोमन और फारसी लिपि, अरबी-फारसी आक्रान्त खड़ी बोली में आस्था रखते थे। उनकी दृष्टि में यही शिष्ट जनों की भाषा थी। संस्कृत तत्सम और तद्भव शब्दों से मुक्त खड़ी बोली को वे गँवारू समझते थे। उनके विश्वास और समझ का दूरगामी प्रभाव उर्दू और हिन्दी के विभाजन के रूप में सामने आया। फोर्ट विलियम कॉलेज में उर्दू और हिन्दी दोनों के गद्य का निर्माण हुआ। इस कॉलेज में खड़ी बोली गद्य का निर्माण करने के लिए दो भाषा मुंशी नियुक्त हुए- आगरा निवासी गुजराती ब्राह्मण लल्लूजीलाल और आरा निवासी सदल मिश्र। 1803 ई. में लल्लूजी लाल ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' के नाम से प्रस्तुत की। इनकी खड़ी बोली में 'यामिनी भाषा' अर्थात् अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार किया गया। जो गद्य इन्होंने लिखा, वह ब्रजभाषा-रंजित, सानुप्रास वाक्यों से युक्त, लम्बे-लम्बे वाक्यों वाली कथावार्ता की शैली का गद्य है, जो व्यवहारोपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। इन्होंने उर्दू और ब्रजभाषा गद्य में कुछ और पुस्तकें भी लिखीं।

सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्वावधान और गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार दो पुस्तकों की रचना की - 'चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान' (संस्कृत से खड़ी बोली गद्य में अनुवाद, 1803 ई.) एवं 'रामचरित अथवा अध्यात्मरामायण' (1805 ई.)। इन्होंने व्यवहारोपयोगी गद्य लिखने का प्रयत्न किया लेकिन इन्हें भी अधिक सफलता नहीं मिली। इनके गद्य में एक ओर ब्रजभाषा का प्रयोग है तो दूसरी ओर पूर्वीपन है। न लल्लूजी लाल का गद्य साफ-सुथरा है, न सदल मिश्र का। इसीलिए आगे के गद्य लेखकों के लिए इनका गद्य प्रेरक नहीं बन सका। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब तक कोई लेखक स्वत: रचना करने के लिए प्रेरित न हो तब तक राजकीय प्रेरणा उपयोगी नहीं होती।

13.5.2 दो स्वाधीन गद्य लेखक

लल्लूजी लाल और सदल मिश्र के दो ऐसे समकालीन खड़ी बोली के गद्य लेखक हैं, जिन्होंने स्वाधीन रहकर लिखा। इनमें पहले हैं दिल्ली-निवासी, उर्दू में शायरी करने वाले और अनेक पुस्तकें लिखने वाले **मु. सदासुखलाल 'नियाज़'**। इन्होंने 'विष्णुपुराण' के नैतिक-उपदेशात्मक प्रसंगों के आधार पर 'सुखसागर' की रचना खड़ी बोली गद्य में की। इनकी खड़ी बोली संस्कृतनिष्ठ है और गद्य प्रवाहपूर्ण लेकिन पण्डिताऊपन से वह भी नहीं बच सके हैं।

दूसरे लेखक हैं **इंशा अल्ला खाँ**। उर्दू के प्रसिद्ध शायर होते हुए भी इन्होंने शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी में 'उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी' (1778-1803 ई. के बीच) की रचना की। भाषा के संबंध में उनकी प्रतिज्ञा थी, "जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले.... बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो।" इन्होंने बड़ा चटकीला, मटकीला, मुहावरेदार और सानुप्रास वाक्यों वाला गद्य लिखा, जिसकी कलात्मकता, चमत्कार और प्रवाहपूर्णता को स्वीकार करना पड़ेगा। बीच-बीच में अत्यन्त स्वाभाविक गद्य के नमूने उनकी इस गद्य-रचना में मिलते हैं, लेकिन समग्रत: उसमें कृत्रिमता है, इसलिए हिन्दी के भावी गद्य लेखकों के आदर्श यह भी नहीं बन सके।

13.5.3 खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का योगदान

ईसाई मिशनरियों ने ईसाइयत का प्रचार करने के लिए दोहरी नीति अपनाई। एक ओर उन्होंने शिक्षा क्षेत्र में यह सोचकर कार्य किया कि शिक्षित भारतीय ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होंगे और उसे अपनाएँगे, क्योंकि भारतीय धर्मों को वह अज्ञान और अन्धविश्वासों के अतिरिक्त और कुछ मानते ही नहीं थे। इसके लिए उन्होंने स्कूल और कॉलेज खोले। स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अधिकांशत: खड़ी बोली को रखा। स्कूल स्तर की भूगोल, इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, ज्योतिष, व्याकरण आदि विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए कलकत्ता, आगरा, इलाहाबाद आदि विभिन्न स्थानों पर 'स्कूल बुक सोसाइटियाँ' स्थापित कीं और मुद्रणालय शुरू किये। इससे विविध विषयों को व्यक्त कर सकने में समर्थ गद्य का विकास हुआ। दूसरी ओर उन्होंने बाइबिल, उसके विभिन्न अंशों और ईसाई

धर्म के पक्ष में और अन्य धर्मों के विरोध में पुस्तक -पुस्तिकाएँ खड़ी बोली गद्य में प्रकाशित एवं वितरित कीं। पादरियों ने प्रवचनों के लिए भी खड़ी बोली को अपनाया। इससे खड़ी बोली का जो गद्य विकसित हुआ, वह अपनी विचित्रताओं के कारण 'ईसाई गद्य' कहा जा सकता है।

13.5.4 आर्यसमाज की खड़ी बोली गद्य को देन

हिन्दी भाषी क्षेत्रों में जिस सुधारवादी आन्दोलन ने सबसे अधिक काम किया, वह आर्य समाज है। यद्यपि स्वामी दयानन्द स्वयं संस्कृत के गुजराती भाषी विद्वान थे और आर्य समाज की स्थापना भी उन्होंने बम्बई में की थी तथापि उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु गुजरात और पंजाब आदि में भी यदि उनका सन्देश प्रचारित हो सकता है तो खड़ी बोली हिन्दी के माध्यम से ही। इसीलिए उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश', संस्कार विधि, 'ऋग्वेद भाष्य-भूमिका' आदि हिन्दी में प्रस्तुत किये। वे अपने भाषण भी हिन्दी में देने लगे, यद्यपि वे पहले संस्कृत में ही भाषण देते थे और शास्त्रार्थ भी संस्कृत में ही करते थे। उनकी प्रेरणा से उनके अनुयायी भी खड़ी बोली में ही लेखन, प्रवचन और शास्त्रार्थ करते। इसके कारण आर्य समाजियों के द्वारा प्रचुर मात्रा में खड़ी बोली में गद्य लिखा गया और उसका परिमार्जन हुआ। 1863 ई. के आसपास पंजाब के आर्यसमाजी प्रतिभाशाली पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी के लेखों और व्याख्यानों की बड़ी धूम मची। उन्होंने खड़ी बोली गद्य में अनेक रचनाएँ लिखीं जिनमें से 'भाग्यवती' (1877 ई.) और 'सत्यमृत-प्रवाह' विशेष प्रसिद्ध हुईं। फिल्लौरी जी के हिन्दी गद्य के लिए योगदान को सभी ने स्वीकार किया है। उन्हें अपने गद्य पर स्वयं भी गर्व हुआ। सन् 1881 ई. में अपनी मृत्यु के समय उन्होंने कहा था - "भारत में भाषा के दो लेखक थे- एक काशी में दूसरा पंजाब में।'' काशी के लेखक से उनका तात्पर्य था भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से और पंजाब में वे स्वयं थे।

13.6 भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता और साहित्य

खड़ी बोली हिन्दी गद्य और भारतेन्दु युगीन साहित्य के विकास में उस काल के पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा योगदान है। इस काल की सारी जागृति, सारी सुधारवादी चेतना और सारा साहित्य पत्र-पत्रिका के माध्यम से ही सामने आया और जनसाधारण तक पहुँचा। हिन्दी के पहले साप्ताहिक 'उदंत मार्तंड' का प्रकाशन कलकत्ता से 30 मई 1826 ई. को प्रारम्भ हुआ और ग्राहकों के अभाव में 4 दिसम्बर 1827 ई. को बंद हो गया। इससे पहले राजा राममोहनराय ने 'बंगदूत' का हिन्दी संस्करण भी निकाला था। कलकत्ता से ही हिन्दी का पहला दैनिक समाचारपत्र श्यामसुन्दर सेन ने जून 1854 ई. में 'समाचार सुधावर्षण' के नाम से निकाला, जो कई वर्षों तक प्रकाशित होता रहा। बनारस से जनवरी 1845 ई. में गोविन्द रघुनाथ थत्ते के सम्पादन में राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस अखबार' निकाला। हिन्दी क्षेत्र से निकलने वाला यह पहला पत्र था। इसकी भाषा का झुकाव अरबी-फारसी शब्दों की ओर अधिक था। सिमला अखबार, मालवा अखबार, काशी पत्रिका आदि इस समय निकलने वाले पत्र भाषा की दृष्टि से उर्दू के ही पत्र थे। हिन्दी भाषा को सच्चे अर्थों में अपनाने वाले काशी के 'सुधाकर' और आगरा के 'बुद्धि प्रकाश' जैसे पत्र थे।

इन पत्रों में साहित्य का प्रकाशन नगण्य था, समाचारों का प्रकाशन ही मुख्य था। साहित्य का प्रकाशन तो मुख्यत: उन पत्र-पत्रिकाओं में हुआ, जिन्हें उस समय के साहित्यकारों ने निकाला। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कविवचन-सुधा' (1868 ई.) और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (1873 ई.) का प्रकाशन किया। उनके अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' लाला श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श', तोताराम ने 'भारतबन्धु' कन्हैयालाल ने 'मित्रविलास' देवकीनन्दन तिवारी ने 'प्रयाग समाचार', राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' चौ. बदरीनारायण प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी', अम्बिकादत्त व्यास ने 'पीयूष प्रवाह', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'उपन्यास', गोपालराम गहमरी ने 'जासूस' और 'गुप्त कथा' आदि पत्र निकाले। इनके अतिरिक्त इस काल में निकले 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि', 'उचित वक्ता', हिन्दी बंगवासी' आदि का उल्लेख भी आवश्यक है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना जगाने, रूढ़ियों और अन्धविश्वास से मुक्त करके समाज सुधारने और भारत के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के अतिरिक्त इनका उद्देश्य "यथा हिन्दी भाषा का प्रचार करना व हिन्दी लिखने वालों की संख्या-वृद्धि'' करना भी था। भारतेन्दु युग का अधिकांश साहित्य पहले पहल इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आया और हिन्दी भाषा का परिमार्जन हुआ। भारतेन्दु ने 'कालचक्र' में यह सच ही लिखा था कि

1873 में "हिन्दी नये चाल में ढली।'' (भारतेन्दु समग्र; पृष्ठ 780) यहाँ यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि इसी वर्ष 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' या 'हरिश्चन्द्रिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था।

13.7 भारतेन्दु युगीन गद्य-साहित्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ''आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृष्ठ 6) गद्य के आविर्भाव के साथ गद्य की साहित्यिक विधाओं का आविर्भाव भी अनिवार्य हुआ। अधिकांश साहित्यिक गद्य विधा भारतेन्दु युग में ही जन्मीं। इस युग में जन्म लेकर विकसित होने वाली तीन मुख्य साहित्यिक विधाएँ हैं - नाटक, निबन्ध और उपन्यास।

13.7.1 नाटक

भारतेन्दु से पूर्व नाटक के नाम पर मिलने वाली रचनाएँ एक तो बहुत कम हैं, दूसरे सच्चे अर्थों में वे नाटक हैं भी नहीं। इस युग से पहले नाट्य रचना के अनुकूल स्थितियाँ भी नहीं थीं। भारतेन्दु ने 'कालचक्र' में एक दृष्टि से ठीक ही नोट किया - "हिन्दी में प्रथम नाटक-नहुष नाटक (1859), तथा द्वितीय नाटक शकुन्तला (1863) तथा तृतीय-विद्यासुन्दर (1871)।'' (भारतेन्दु समग्र: पृष्ठ 780) इन तीन नाटकों में से दो नाटक अनुवाद हैं। राजा लक्ष्मणसिंह कृत 'शकुन्तला' कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलानाटकम्' का अनुवाद है और 'विद्यासुन्दर' स्वयं भारतेन्दु के द्वारा बंगला से अनूदित है। भारतेन्दु ने एक अंग्रेजी से, एक बंगला से और पाँच संस्कृत से नाटकों के अनुवाद किये और दस मौलिक नाटक लिखे। उनके अनूदित नाटकों में 'मुद्राराक्षस', पुनर्रचित नाटकों के अनुवाद में 'हरिश्चन्द्र' और मौलिक नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'श्रीचन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', और 'अन्धेर नगरी' को विशेष ख्याति मिली। उन्होंने अपने कुछ नाटकों में यदि अपनी प्रेम और भक्ति की भावनाओं को अभिव्यक्त किया तो अन्य अधिकांश नाटकों में अपने समकालीन समाज, धर्म, राजनीति, प्रशासन, न्याय व्यवस्था और अर्थव्यवस्था की समस्याओं को उजागर किया है। इन समस्याओं को उजागर करने में उनका सबसे बड़ा अस्त्र है हास्य और व्यंग्य। 'अंधेर नगरी' के अन्त में महन्त द्वारा कही गयी इन पंक्तियों से तीखा कटाक्ष अंग्रेजी शासन पर और क्या हो सकता है :

> जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजान समाज।
> ते ऐसहिं आपुहि नसे, जैसे चौपटराज,'' (भारतेन्दु समग्र, पृष्ठ 536)

भारतेन्दु ने अपने नाटकों के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशैलियों के उपयुक्त तत्त्व लेकर एक नयी नाट्यशैली का निर्माण किया था। उनके नाटकों के केन्द्र में नाट्यवस्तु, नाट्यशिल्प और जीवन दृष्टि संबंधी प्रयोगशीलता और प्रगतिशीलता दोनों विद्यमान हैं। उन्होंने अपने नाटक रंगमंच के लिए लिखे थे। वे स्वयं रंगमंच पर सक्रिय थे। इसलिए उनके 'अंधेर नगरी' जैसे नाटक आज भी सफलतापूर्वक मंचित होते हैं।

भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों में से ठा. जगमोहनसिंह को छोड़कर बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, देवकीनन्दन तिवारी, अम्बिका दत्त व्यास इत्यादि सभी ने नाटक लिखे। भारतेन्दु युग के नाटककारों में से भारतेन्दु के अतिरिक्त तीन नाटककार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं- लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी। लाला श्रीनिवासदास ने 'प्रह्लाद चरित्र', 'तपता संवरण', 'रणधीर-प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयंवर' - इन चार नाटकों की रचना की। इनमें से 'रणधीर-प्रेममोहिनी' उनका सर्वोत्तम अपने समय में सर्वाधिक लोकप्रिय होने वाला नाटक है। अंग्रेजी नाट्यशैली में लिखी गयी यह दुःखान्त प्रेमकथा है, जिस पर रीतिकालीन श्रृंगारलीलाओं का स्पष्ट प्रभाव है। आज इस कृति का महत्व मात्र ऐतिहासिक है। प्रतापनारायण मिश्र ने 'हमीर हठ', 'भारत दुर्दशा', 'कलिकौतुक रूपकम', गो-संकट', 'संगीत शाकुन्तल', 'कलिप्रभाव नाटक', 'जुआरी-खुआरी' इत्यादि अनेक नाटकों की रचना की। उनके नाटक युगीन चिन्ताओं को व्यक्त करने के साथ-साथ शिल्पगत प्रयोगशीलता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। राधाचरण गोस्वामी ने 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' और 'सुदामा' जैसे

ऐतिहासिक-पौराणिक नाटक लिखे, जो सामान्य कोटि के हैं, किन्तु नाटककार के रूप में उनका महत्व उनके प्रहसनों के कारण है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे', 'तन-मन-धन गुसाईंजी के अर्पण', 'भंग-तंरग', 'लोग देखें तमाशा' आदि प्रहसनों से उन्होंने अपने समकालीन जीवन के नकारात्मक पक्षों की जैसी धज्जियाँ उड़ाई हैं और जैसी दूरदर्शी प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया है, वह भारतेन्दु युग में ही नहीं, बाद में भी कम ही नाटककारों में देखने को मिलती है।

भारतेन्दु युग में नाट्य-रचना और नाट्य-प्रदर्शन का एक आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ था। एक साथ जितने नाटककार इस युग में नाट्य रचना में संलग्न थे, उतने पूरे हिन्दी साहित्य के किसी एक काल में नहीं थे। इसका कारण यह था कि साहित्य के माध्यम से समाज को बदलने का जैसा उत्साह इस काल के नाटकों में था वैसा हिन्दी साहित्य में फिर कभी दिखाई नहीं दिया। ये नाटककार समझते थे कि जनसाध ारण तक अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से पहुँचाने का सबसे सशक्त माध्यम नाटक है। यही कारण है कि जिस समग्रता के साथ इस काल के नाटकों में समकालीन जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है वैसी समग्रता के साथ और किसी काल के नाटकों में नहीं हुआ है।

13.7.2 निबन्ध साहित्य

भारतेन्दु युग में जिस दूसरी गद्य-विधा का विकास विशेष रूप से हुआ, वह निबन्ध है। निबन्ध से हमारा तात्पर्य उस लघ्वाकार अकथात्मक गद्य रचना से है, जो अपनी संरचना में स्वच्छन्द होती है और जिसमें लेखक की वैयक्तिकता, उसका व्यक्तित्व निर्बन्ध अभिव्यक्ति पाता है। इस दृष्टि से लेख निबन्ध से अलग है। इस युग के गद्य लेखकों ने समकालीन जीवन और इतिहास के अनेक पक्षों पर प्रभूत मात्रा में लेख लिखे हैं, जिनमें से अधिकांश तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में दबे पड़े हैं। इन लेखों का महत्त्व असंदिग्ध है, क्योंकि इनके माध्यम से हम न केवल उस काल के लेखकों की सोच से परिचित होते हैं, अपितु युग की प्रामाणिक जानकारी भी हमें मिलती है। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से इन लेखों की अपेक्षा निबन्धों का महत्व अधिक है।

यद्यपि भारतेन्दु युग के अनेक लेखकों ने निबन्ध लिखे हैं, किन्तु निबन्धकार रूप में अपना वैशिष्ट्य स्थापित करने वाले चार ही लेखक हैं- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। भारतेन्दु ने निबन्ध कम लिखे हैं, लेख अधिक। उनके विभिन्न विषयों पर लिखे गये लेखों में उनकी भावनाओं और उनकी व्यंग्य-प्रवृत्ति ने अभिव्यक्ति अवश्य पायी है, किन्तु इतनी क्षीणता के साथ कि लेख, निबन्ध नहीं बन सके हैं। अगर भारतेन्दु को निबन्धकार के रूप में हम याद करते हैं तो 'अंग्रेजों से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता', 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन', 'स्त्री-सेवा-पद्धति', 'अथ मदिरास्तवराज', 'कंकर स्तोत्र', ईश्वर बड़ा विलक्षण है', 'पाँचवें (चूसा) पैगम्बर' जैसी रचनाओं के कारण। इन रचनाओं में भारतेन्दु का स्वच्छन्द प्रगतिशील व्यक्तित्व, व्यंग्य-विनोद, विचारों के मुक्त प्रवाह, चमत्कारपूर्ण किन्तु अनौपचारिक अभिव्यक्ति-शैली के माध्यम से छलका पड़ता है। भारतेन्दु की अपेक्षा "**बालकृष्ण भट्ट**" के निबन्ध संख्या में भी अधिक हैं और परिपक्वता भी उनमें कहीं अधिक है। वे विद्वान थे, अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे, गम्भीर विचारक थे और परिहासप्रिय भी थे। वे एक ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट करना चाहते थे और 'विदग्ध साहित्य' को प्रोत्साहन देना देना चाहते थे, दूसरी ओर उनकी मान्यता थी कि "रसिक पढ़ने वाले हास्य पर अधिक टूटते हैं। सच पूछो, हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली समान दाँत न खिल उठे तो लेख ही क्या।" इसलिए उन्होंने चाहे राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक आदि गम्भीर विषयों पर लिखा हो अथवा 'चढ़ती उमर', 'मुग्ध माधुरी', 'पौगण्ड व कैशोर', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाये मुछन्दर', 'बातचीत', 'आँख', 'खटका', 'जवान', 'नहीं', 'जी', 'द', 'नाक', 'ढोल के भीतर पोल', 'नये तरह के जनून' आदि हल्के-फुल्के विषयों पर, उनके निबन्धों में विचार, भावना, परिहास और व्यंग्य सब एक साथ विद्यमान रहते हैं। न किसी निबन्ध में आद्यन्त गम्भीर विचारात्मकता मिलेगी, न भावुकता और न ही हास्य-व्यंग्य। उनके निबन्धों में विभिन्न भाषाओं की काव्य-पंक्तियों के उद्धरण भी विद्यमान हैं और उक्ति चमत्कार भी। वे हिन्दी के गिनेचुने श्रेष्ठ निबन्धकारों में से एक हैं।

प्रतापनारायण मिश्र भट्टजी के समकालीन थे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनन्य भक्त थे, राजनीति में सक्रिय थे, सामाजिक-धार्मिक बन्धनों की चिन्ता नहीं करते थे, मस्तमौला जीव थे। उनकी जीवन-कथा उपन्यास

जैसी रोचक है। उनका यह जीवन उनके निबन्धों में खूब प्रतिबिम्बित हुआ है। एक ओर उन्होंने ऐसे निबन्ध लिखे हैं जिनमें उनकी वैचारिकता केन्द्र में है और दूसरी ओर उन्होंने ऐसे निबंध लिखे जिनमें उनका मस्तमौला व्यक्तित्व केन्द्र में है। पहले प्रकार के निबंधों में उन्होंने औपचारिकता का काफी हद तक निर्वाह किया है, दूसरे प्रकार के निबन्धों में पूर्णत: अनौपचारिक हैं। इन निबन्धों में वे अपने पाठकों से बड़े ही अनौचारिक और आत्मीय ढंग से बात करते हैं। वैसे, 'बुढ़ापा' 'भौं', 'धोका', 'दांत', 'ट', 'द', 'खुशामद', 'आप', 'तिल', 'बात', जैसे विषयों पर अनौपचारिक हुए बिना लिखा भी नहीं जा सकता। मिश्रजी के निबन्धों में आयासहीन प्रवाह सजीवता, आत्मीयता, बांकपन, उक्ति-चमत्कार, भावों और विचारों का चुलबुलापन, व्यंग्य-विनोद आदि ऐसे छलकते रहते हैं जैसे सेब में से लाली छलकती है। इनसे मिलती-जुलती विशेषताएँ **बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'** के लघ्वाकार निबन्धों में विद्यमान हैं, किन्तु कम मात्रा में। जिन्हें निबन्ध कहा जा सकता है, उनकी ऐसी रचनाएँ कम हैं, जैसे, 'बनारस का बुढ़वा मंगल, 'समय', दिल्ली दरबार में मित्र मण्डली के यार' 'हमारी मसहरी' इत्यादि। प्रेमघन जी बाणभट्ट के गद्य को अपना आदर्श मानकर चले। इसलिए भारतेन्दु युग के गद्यकारों में इनकी शैली सबसे अलग है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने इनके संबंध में यह ठीक ही लिखा है कि "वे गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले-कलम की कारीगरी को समझने वाले- लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीले मज़मून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 430)

इन चार निबन्धकारों के अतिरिक्त इस काल के अन्य लेखकों ने भी अनेक अच्छे निबन्धों की रचना की है। पाठक और लेखक के बीच जैसा अनौपचारिक और आत्मीय संबंध भारतेन्दु युग में स्थापित हुआ वैसा अन्य किसी युग में नहीं। शायद इसीलिए इस युग में निबन्ध-साहित्य सम्पन्न हुआ।

13.7.3 उपन्यास साहित्य

उपन्यास अन्य गद्य विधाओं की तुलना में सबसे अधिक लोकप्रिय विधा है। हिन्दी साहित्य में इस विधा का आरंभ इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि हिन्दी न जानने वालों ने भी उपन्यास पढ़ने की ललक से हिन्दी सीखी। भारतेन्दु युग में आधुनिक हिन्दी उपन्यास जन्मा भी और विकसित भी हुआ। उसे प्रेरणा मिली बंगला उपन्यासों से। 1864 ई. में बंकिमचन्द्र के उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी में अनुवाद हुआ। उसके बाद न केवल बंकिमचन्द्र के अपितु रमेशचन्द्र दत्त, हाराणाचन्द्र रक्षित, चण्डीचरण सेन, चारुचन्द्र आदि के उपन्यासों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए। इन्हीं से तथा अंग्रेजी उपन्यासों से प्रेरित होकर हिन्दी में उपन्यास लिखे जाने लगे।

हिन्दी के पहले उपन्यास के रूप में जिन चार रचनाओं का नाम लिया जाता है वे हैं - गौरीदत्त-कृत 'देवरानी-जिठानी' (1870 ई.) मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस 'रियाजी' और मुंशी कल्याण राव मुदर्रिस अव्वल उर्दू-कृत 'वामा-शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी' (1872 ई.), श्रद्धाराम फिल्लौरी - कृत 'भाग्यवती' (1877 ई.) और लाला श्रीनिवासदास - कृत 'परीक्षा-गुरू' (1882 ई.)। इनमें से पहली तीन रचनाओं को कोरी उपदेशात्मकता और यथार्थ जीवन का आभास न देने वाली कथाएँ होने के कारण उपन्यास नहीं माना गया। अब प्राय: सभी 'परीक्षा-गुरू' को हिन्दी का पहला उपन्यास स्वीकार करते हैं। क्योंकि उपदेशात्मक होने पर भी इसकी कथा यथार्थभासी है और इसमें नये ढंग से चरित्रचित्रण का प्रयास भी किया गया है। लालाजी सचेत भाव से उपन्यास लिख रहे थे, यह बात इस पुस्तक के समर्पण के इस वाक्य से स्पष्ट है - I Dedicate this book, my humble attempt at noval writing to you........

इस पहले उपन्यास के बाद भारतेन्दु युग में बहुत बड़ी संख्या में उपन्यास लिखे गये। इन उपन्यासों को लक्ष्य की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग उन उपन्यासों का है, जो अपना विषय चाहे समाज से लें, चाहे इतिहास-पुराण से अथवा शुद्ध काल्पनिक कथा गढ़ें, लेकिन मनुष्य जीवन की विभिन्न समस्याओं और भावनाओं को उपस्थित करने के साथ-साथ शिक्षा भी देते हैं। ऐसे उपन्यास किशोरी लाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, ठा. जगमोहन सिंह, हरिऔध, गोकुलनाथ शर्मा, बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जा राम शर्मा आदि ने लिखे। इनमें से **किशोरी लाल गोस्वामी** का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उन्होंने संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक उपन्यास लिखे हैं और सभी तरह के उपन्यास लिखे हैं। सभी में श्रृंगार का रीतिकालीन पद्धति से खुला चित्रण किया है और स्वाभाविकता एवं प्रामाणिकता

की बिल्कुल चिंता नहीं की है। **राधाचरण गोस्वामी** के उपन्यासों का वैशिष्ट्य हिन्दू समाज की विसंगतियों को प्रस्तुत करने में है। उनके तथा राधाकृष्णदास एवं मेहता लज्जा राम शर्मा के उपन्यास हिन्दू गौरव की भावना से ओतप्रोत हैं।

दूसरा वर्ग उन उपन्यासों का है जिनका लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन है। मनोरंजक उपन्यासों में एक श्रेणी तिलिस्मी-अय्यारी उपन्यासों की है। इस श्रेणी के उपन्यासों में सर्वोत्तम उपन्यास देवकीनन्दन खत्री ने लिखे। उनके 'चन्द्रकान्ता' (1891 ई.) और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' (1894-1909 ई.) को पढ़ने के लिए उस समय न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी। उनके ये उपन्यास आज भी रुचिपूर्वक पढ़े जाते हैं। उनके 'कुसुम कुमारी', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्र वीर', 'अनूठी बेगम', 'गुप्त गोदना' और 'भूतनाथ' ने भी कम लोकप्रियता प्राप्त नहीं की। इस प्रकार के उपन्यास भारतेन्दु युग के अन्य कई उपन्यासकारों ने भी लिखे, लेकिन उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली मनोरंजक उपन्यासों में दूसरी श्रेणी जासूसी उपन्यासों की है। जासूसी उपन्यास लिखने वालों में सबसे पहला नाम गोपालराम गहमरी का है। उनके द्वारा प्रकाशित 'जासूस' और 'गुप्त कथा' पत्रों में उनके जासूसी-साहसिक उपन्यास प्रकाशित हुए। 1896 ई. और 1946 ई. के बीच उनके लगभग 200 उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें से कितने मौलिक हैं और कितने अंग्रेजी एवं बंगला उपन्यासों की छाया, कहना मुश्किल है। उनके जैसे श्रेष्ठ जासूसी उपन्यास लिखने वाला हिन्दी में कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं है। यों, भारतेन्दु युग के अन्य अनेक लेखकों ने भी जासूसी उपन्यास लिखे हैं।

भारतेन्दु युग में प्रचुर संख्या में उपन्यासों की रचना एक ओर उसकी लोकप्रियता की द्योतक है तो दूसरी ओर मध्यवर्ग के उभार की भी द्योतक है। उपन्यास हर दृष्टि से मध्यवर्ग-सम्बद्ध गद्य विधा है।

13.7.4 अन्य गद्य विधाएँ

उपर्युक्त तीन गद्य-विधाओं के अतिरिक्त अन्य गद्य-विधाओं की दृष्टि से भारतेन्दु युग की कोई विशेष देन नहीं है। कहानी का जन्म इस युग में न होकर द्विवेदी युग में हुआ। पत्रिकाओं में पुस्तकों की परिचयात्मक सूचना को पुस्तक-समीक्षा का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। भारतेन्दु के निबन्ध 'नाटक' (1883 ई.) से सैद्धान्तिक और लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमघन' द्वारा लिखित विस्तृत और तीक्ष्ण आलोचना से व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात अवश्य हो गया, किन्तु उसका विकास आगे चलकर ही हुआ।

13.8 भारतेन्दु युगीन कविता

भारतेन्दु युग में गद्य को लेकर कोई दुविधा नहीं है न कथ्य को लेकर न माध्यम भाषा को लेकर, क्योंकि भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी में गद्य की कोई पुष्ट परम्परा नहीं थी। लेकिन कविता को लेकर दुविधा ही दुविधा है। भक्तिकाल और रीतिकाल की सम्पन्न काव्य-परम्परा को छोड़कर एकदम नये कविता मार्ग पर चल पड़ना भारतेन्दु युग के कवियों के लिए सम्भव नहीं था। इसलिए भारतेन्दु युग में भक्ति, शृंगार और नीति की प्रचुर कविता का लेखन हुआ तथा इसकी भाषा ब्रजभाषा ही रही। इस युग के अनेक कवि परंपरा का कोरा अनुकरण कर रहे थे और कविता के नाम पर केवल चमत्कार-सृष्टि कर रहे थे, जैसे महाराज कुमार बाबू नर्मदेश्वर प्रसाद सिंह का 'शिवाशिव शतक', किन्तु स्वयं भारतेन्दु, द्विजदेव, सरदार कवि, लाल कवि, शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी', लछिराम, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि ऐसी परम्परागत कविता लिख रहे थे, जिसमें अनुभव की सजीवता भी थी और चमत्कार भी। भारतेन्दु का निम्नांकित सवैया भावों की मधुरता और ब्रजभाषा की स्वाभाविकता के कारण परम्परागत होते हुए भी श्रेष्ठ काव्य कहा जायेगा :

> एक ही गाँव में बास सदा, घर पास रहौ नहिं जानती हैं।
> पुनि पाचएँ-सातएँ आवत-जात, की आस न चित्त में आनती हैं।
> हम कौन उपाय करैं इनको, 'हरिचंद' महा हठ ठानती हैं।
> पिय प्यारे तिहारे निहोरे बिना, आँखियाँ दुखिया नहिं मानती हैं।।

(भारतेन्दु समग्र, पृष्ठ 44)

यदि भारतेन्दु युग के कवियों ने ऐसी ही परम्परागत कविता लिखी होती तो आधुनिक हिन्दी कविता में उनका योगदान नगण्य माना जाता। लेकिन ऐसा है नहीं। इस युग के कवियों ने परम्परा से हटकर नये विषयों को लेकर नयी भाववस्तु वाली कविताएँ प्रभूत मात्रा में लिखी हैं। उन्होंने ऐसे विषयों पर कविताएँ लिखी हैं जिन पर उनके पूर्ववर्ती कवि कविता लिखने की बात सोच भी नहीं सकते थे- जैसे, निर्धनता, भूख, अकाल, महँगाई, रोग, बैर, कलह, आलस्य, सन्तोष, खुशामद, कायरता, टैक्स, अनैक्य, देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतान्तर, छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, व्यभिचार, अशिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा, अज्ञान, रुढ़िप्रियता, समुद्रयात्रा, कूपमण्डूकता, ईश्वर, देवी-देवता, भूत-प्रेत, अपव्यय, न्यायव्यवस्था, पुलिस, प्रशासन, फैशन, सिफारिश, रिश्वतखोरी, बेकारी, सुरा-सेवन इत्यादि। समकालीन जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिस पर भारतेन्दु युग के कवियों ने कविता न लिखी हो। कविता लेखन के इतने विविध विषय होना, कविता का, यथार्थ और दैनन्दिन जीवन से जुड़ना है। यह एक तरह से पारलौकिक जीवनदृष्टि को अपदस्थ करके लौकिक जीवन दृष्टि का स्थापित होना है।

भारतेन्दु युग का नया कवि जब अपने वर्तमान पर दृष्टि डालता है तो एक ओर तो उसे अपना अतीत गौरव याद आता है और दूसरी ओर अपनी वर्तमान अधोगति पर क्षोभ होता है। वह वर्तमान की अधोगति पर विचार करता है और उसके लिए उत्तरदायी अनेक कारण उसके सामने आते हैं। इनमें से एक कारण भारतीय समाज की जड़ता, रुढ़िप्रियता और तमाम कुरीतियाँ हैं। इसलिए वह समाज को सुधारना चाहता है। लेकिन यहाँ भी द्वन्द्व और दुविधा है। उस समय समाज-सुधार के ऐसे अनेक प्रश्न थे, जिन पर इस युग के नये कवि भी एक मत नहीं थे- जैसे, बाल-विवाह या विधवा-विवाह। इन विषयों को लेकर समाज-सुधार की पक्षधरता के कारण ही भारतेन्दु को 'क्रिस्तान' कहा गया था। इस युग के नये कवि धर्म का वही रूप स्वीकार करने के लिए तैयार थे, जो स्वस्थ हो। वे कर्मकाण्ड के विरोधी थे। दूसरा कारण था अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण। सन् 1857 ई. के विद्रोह के दमन की क्रूरता से उत्पन्न आतंक तथा परवर्ती मध्यकालीन अराजकता आदि से मुक्ति दिलाने के कारण ये कवि अंग्रेज-राज की प्रशंसा भी करते थे, लेकिन अनुभव करते थे कि अंग्रेज-राज के सारे सुख-साज के बावजूद भारत का धन विदेश चले जाना अत्यधिक बरबादी का कारण है। इससे मुक्ति के लिए भारतेन्दु ने सन् 1874 ई. में 'स्वदेशी' का आन्दोलन चलाया था। वे अंग्रेज-प्रशासन को भारत की तत्कालीन दुर्दशा के लिए कम उत्तरदायी नहीं मानते थे। इसलिए इस युग के नये कवियों ने अफसरों, पुलिस, शिक्षा, तरह-तरह के कर इत्यादि की कटु आलोचना की है। 'अंधेर नगरी' में चूरन बेचने वाले के इन कथनों में इसी आलोचना का एक रूप है :

> चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रुशवत तुरत पचावैं।।
>
> चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।।
>
> चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।। (भारतेन्दु समग्र; पृष्ठ 531)

इसी प्रकार के अनेक कारण और भी हैं जिनसे भारतेन्दुयुगीन भारत की दुर्दशा हुई थी। इस दुर्दशा के प्रसंग में भारतेन्दु युग की कविता का बहुत बड़ा अंश आज भी प्रासंगिक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन' राधाचरण गोस्वामी, इत्यादि इस युग के नये प्रगतिशील कवि राष्ट्रीयता की भावना से भरे हुए थे। इस भावना से प्रेरित होकर इन कवियों ने अतीत-गौरव और भारत की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करने के साथ-साथ उन उपायों का भी निर्देश किया, जिनसे भारत अपनी दुर्दशा से मुक्त हो सकता था। इनमें से एक उपाय था अंग्रेजों के विरुद्ध सारे भारतीयों की एकता। प्रेमघन' ने लिखा था :

> हिन्दु मुस्लिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
> सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन' सकल भारती भ्रात।।

लेकिन सबसे बड़ा उपाय था पराधीनता से मुक्ति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति। प्रतापनारायण मिश्र ने स्वतन्त्रता के संबंध में लिखा था :

> सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव।
> राजा करै सो न्याव है, पाँसा करै सो दाव।।

भारतेन्दु युगीन कवियों में एक दुविधा कविता की माध्यम भाषा को लेकर भी थी। गद्य में खड़ी बोली बिना किसी दुविधा के अपना ली गयी, लेकिन कविता में ब्रजभाषा ही चलती रही। इस युग के कवि अनुभव करते थे कि "ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती है।" (भारतेन्दु : 'हिन्दी भाषा' भारतेन्दु समग्र; पृष्ठ 1049) बालकृष्ण भट्ट तो सन् 1911 ई. में भी यह मानते थे कि "मेरे विचार में खड़ी बोली में एक प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उसमें सरसता सम्पादन करना प्रतिभावान के लिए भी कठिन है तब तुकबन्दी करने वालों की कौन कहे।" (स्वागत-भाषण, द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग) लेकिन अनजाने ही भारतेन्दु युग के कवि लावनियों, नाटकों में प्रयुक्त कविताओं में खड़ी बोली का उपयोग कर रहे थे। उधर मुजफ्फरपुर (बिहार) के अयोध्या प्रसाद खत्री तन-मन-धन से खड़ी बोली पद्य का आन्दोलन चला रहे थे। 1887 ई. में उन्होंने 'खड़ी बोली का पद्य पहला भाग' प्रकाशित किया। आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली को आगे चलकर जो स्वीकृति मिली, उससे स्पष्ट है कि खड़ी बोली के पक्षधर उसके विरोधियों की तुलना में अधिक भविष्यद्रष्टा थे।

13.9 सारांश

स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग संक्रमण का काल है। उसमें नये और पुराने का द्वन्द्व कदम-कदम पर विद्यमान है। यह भी स्पष्ट है कि पुराना पिछड़ रहा है, नया आगे बढ़ रहा है। इस पुराने और नये के द्वन्द्व के कारण ही भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य अनेक अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। लेकिन उसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसने हिन्दी साहित्य को नवयुग में लाकर खड़ा कर दिया। उसने खड़ी बोली गद्य को और उसके विविध साहित्यरूपों को विकसित और प्रतिष्ठित किया। उसने कविता, को दैनन्दिन यथार्थ जीवन की समस्याओं के साथ जोड़ा। इस युग के साहित्यकार स्वयं जागे और दूसरों को जगाया। मध्यकालीन बोध को त्यागकर उन्होंने आधुनिक बोध को अपनाया और उसे अपनाने के लिए अपने पाठकों को प्रेरित किया। सामान्यत: इस युग के साहित्यकार की दृष्टि आधुनिक और प्रगतिशील थी। भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य एक नवजागृत जाति का साहित्य है।

13.10 प्रश्न/अभ्यास

1. नवजागरण और आधुनिक बोध से आप क्या समझते हैं? विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. खड़ी बोली गद्य के विकास पर एक निबंध लिखिए।
3. भारतेन्दु युगीन साहित्य के विकास में उसकी पत्र-पत्रिकाओं का क्या योगदान रहा है? स्पष्ट कीजिए।
4. भारतेन्दु युग के कुछ प्रमुख निबंधकारों एवं उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए।
5. भारतेन्दु युगीन कविता में परंपरा और आधुनिकता के संगम पर लेख लिखिए।

इकाई 14 द्विवेदी युग

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 स्वाधीनता आंदोलन और द्विवेदी युग का मूल चरित्र

14.3 'सरस्वती' और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका

14.3.1 द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श

14.4 द्विवेदी-युगीन गद्य साहित्य

14.4.1 नाटक

14.4.2 उपन्यास

14.4.3 कहानी

14.4.4 निबंध

14.4.5 आलोचना

14.5 द्विवेदी-युगीन कविता

14.5.1 ब्रजभाषा की कविता

14.5.2 खड़ी बोली की कविता

14.6 सारांश

14.7 प्रश्न/अभ्यास

14.0 उद्देश्य

इस खंड की पिछली इकाई संख्या 13 में आपने 'भारतेंदु युग' का अध्ययन किया। आपने देखा कि भारतेंदु जैसे व्यक्तित्व के आगमन से हिन्दी साहित्य को नवीन दिशा एवं दृष्टि मिली। खड़ी बोली में हिंदी साहित्य रचना का जो रूप उन्होंने दिया था, उसमें परिवर्तन होते गए। भाषा-साहित्य के क्षेत्र में अराजकता का वातावरण बन गया। ऐसे समय में महावीर प्रसार द्विवेदी जैसे व्यक्तित्व का पर्दापण हुआ और उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी भाषा और साहित्य को परिमार्जित और सरल रूप प्रदान करने का कार्य किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आदर्शों को जान सकेंगे, और
- द्विवेदी-युगीन गद्य एवं पद्य साहित्य से परिचित हो सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

एक दृष्टि से द्विवेदी युग, भारतेंदु युग का विस्तार ही है। हम यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक काल में हिंदी साहित्य ने भारतेंदु युग में पहला चरण रखा और द्विवेदी युग में उसने दूसरा चरण रखा। शायद इसीलिए डॉ. बच्चन सिंह ने अपने 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (1996) में 1857 ई. से 1920 के काल को एक ही काल माना है - 'नवजागरण युग'। लेकिन उन्होंने इससे पूर्व प्रकाशित अपने 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग को अलग-अलग माना है यद्यपि उन्होंने इन दोनों कालों का नया नामकरण किया है - 'पुनर्जागरण काल' (1857 ई.1900 ई.) और 'पूर्व-स्वच्छंदता काल' (1900 ई.-1920 ई.) किंतु उनके अतिरिक्त प्राय: अन्य सभी हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने इन दोनों युगों को न केवल अलग-अलग माना है अपितु भारतेंदु युग और द्विवेदी युग नामों को भी स्वीकार कर लिया है। यही उचित भी है क्योंकि भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में यदि समानताएँ हैं तो ऐसी असमानताएँ

भी हैं जो उनके बीच स्पष्ट विभाजक रेखाएँ खींचती हैं। भारतेंदु युग में कोई एक ऐसी साहित्यिक पत्रिका नहीं थी, जिसने पूरे युग को लगभग पूर्णत: नियंत्रित किया हो। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व भी वैसा स्वच्छंद नहीं था जैसा भारतेंदु का था। इसीलिए जो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ भारतेंदु युग में जन्मीं थीं, वे द्विवेदी युग में दबी-सी रहीं। अत: 'सरस्वती' के प्रकाशन-वर्ष से इस युग का प्रारंभ माना जाता है। स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के उभार का पहला प्रमाण जयशंकर प्रसाद के 'झरना' (1918 ई.) की कविताओं में मिला। इसलिए 'झरना' के प्रकाशन-वर्ष को द्विवेदी युग की अंतिम सीमा माना जाता है। भारतेंदु युग से द्विवेदी युग को अलग करने वाले कुछ और बिंदु भी हैं। भारतेंदु युग संक्रांति-काल था। उसमें पक्ष-विपक्ष परस्पर उलझे हुए थे। द्विवेदी युग में आकर संक्रमण की स्थिति लगभग समाप्त हो जाती है। भारतेंदु युग के उलझे हुए प्रश्नों का इस युग में आकर समाधान हो जाता है। इस युग में खड़ी बोली को गद्य की भाषा के साथ-साथ पद्य या कविता की भाषा के रूप में भी स्वीकार कर लिया जाता है। इस युग में एक और विशेष बात हुई है, वह यह कि भारतेंदु युग के मध्य-वर्ग की अपेक्षा द्विवेदी युग के मध्य-वर्ग में आभिजात्य की भावना बहुत प्रबल हो गई। वह अपने को जन-सामान्य से बहुत ऊपर समझने लगा और उसमें यह भाव आ गया कि वह जन-सामान्य को शिक्षा दे सकता है। फलत: उसके लेखन और व्यक्तित्व, दोनों में भारतेंदु युग जैसी अनौपचारिकता और आत्मीयता नहीं रह गई। इसलिए द्विवेदी युग को भारतेंदु युग से अलग मानना ही उचित होगा।

14.2 स्वाधीनता आंदोलन और द्विवेदी युग का मूल चरित्र

1856 ई. में हिंदी भाषा क्षेत्र पर पूरी तरह अंग्रेजों के आधिपत्य स्थापित करते ही अगले वर्ष 1857 ई. में उनके विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी। यद्यपि अंग्रेजों ने स्वाधीनता की इस पहली लड़ाई को क्रूरतापूर्वक दबा दिया, किंतु वे स्वाधीनता की भावना को नहीं दबा सके। भारतेंदु युग का कवि ही स्वाधीनता की माँग करने लगा था -

'सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातैं खाय।' (प्रतापनारायण मिश्र)

द्विवेदी युग में स्वाधीनता की माँग और तीव्र हुई। 28 सितम्बर, 1885 ई. में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों की सद्भावना और न्यायप्रियता पर विश्वास करके अपनी माँगे उनके सामने प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत करती रही, लेकिन इन प्रार्थनाओं का कोई फल नहीं निकला। इसलिए कांग्रेस में असंतोष बढ़ने लगा जो 1905 ई. में बंग-भंग के समय पूर्णत: सामने आ गया। इस बंग-भंग का सभी देशभक्त भारतीयों ने विरोध किया, लेकिन विरोधक स्वरूप को लेकर उनमें मतभेद था। फलत: कांग्रेस में उग्र और अनुग्र दो दल बन गए। 1906 ई. में कांग्रेस की सदस्यता के नियम इस प्रकार बना दिए गए जिससे उग्र दल वालों के लिए उसके दरवाज़े बंद हो गए। अंग्रेज़ सरकार भी उग्रवादियों के खिलाफ थी। अत: 1907 ई. में बिना मुकदमा चलाए लाला लाजपतराय को देश से निर्वासित करके माण्डले भेज दिया गया। अगले ही वर्ष **केसरी** के लेखों को बहाना बनाकर तिलक को छह वर्ष की कड़ी सज़ा देकर माण्डले भेज दिया। लेकिन इससे अंग्रेजी शासन का विरोध कम नहीं हुआ। 1915 ई. में तिलक और एनी बेसेण्ट ने **होमरूल** (स्वशासन) आंदोलन चलाया। 1916 ई. में उग्रवादियों को कांग्रेस में फिर प्रवेश मिला। 1914 ई. में प्रारंभ होने वाले प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने के लिए गांधीजी ने कांग्रेसियों को मना लिया। इस सहायता के पीछे मनोभाव यह था कि युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेज़ शासन में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाएँगे, उनकी माँगों को कुछ न कुछ स्वीकार करेंगे, लेकिन हुआ उलटा। युद्ध समाप्त होते ही अंग्रेज़ों ने अपना दमनचक्र पूरी तेज़ी से चलाया, जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। 1919 ई. का रौलट-बिल इसी दमनचक्र का अंग था और 13 अप्रैल, 1919 ई. को जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड उस दमनचक्र की चरम परिणति थी।

राजनीति के क्षेत्र में घटनाएँ बड़ी तेजी से घट रही थीं और राजनीति में उग्रता बढ़ रही थी, लेकिन द्विवेदी युगीन हिंदी साहित्य में यह उग्रता पूरी तरह प्रतिबिंबित होती नहीं दिखाई देती। इसका एक कारण तो साहित्यकार का मध्यवर्गीय चरित्र है जो एक सीमा तक ही जोखिम उठा सकता है। लेकिन इससे भी बड़ा कारण है इस युग के साहित्य को नियंत्रित करने वाले आचार्य महावीर प्रसार द्विवेदी का व्यक्तित्व।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है – **'भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवीन्द्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यमय अंत:पट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती, न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों में निष्पन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है, जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है, जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल, उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की – ''निरस विसद गुणमय फल जासू'' ।'** (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 11) द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की इस विशेषता को डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी रेखांकित किया है – **'भारतेंदु के व्यक्तित्व में बंगाल की कोमलता और भावुकता थी, आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व में महाराष्ट्र की कठोरता और वस्तून्मुखता।'** (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 108) द्विवेदी जी का यह व्यक्तित्व ही उनके युग के साहित्य के मूल चरित्र को प्रभावित करता है। आर्य समाज के हिंदी क्षेत्र पर बढ़ते प्रभाव ने इसे और पुष्ट किया है एवं दृढ़ बनाया है।

14.3 'सरस्वती' और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका

जिस तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों के साहित्य को अनुशासित और निर्देशित किया वैसा न उनसे पहले और न ही उनके बाद कोई एक व्यक्ति कर सका। वे सच्चे अर्थों में युग-निर्माता थे। और यह कार्य उन्होंने किया 'सरस्वती' के माध्यम से। इस पत्रिका का पहला अंक जनवरी, 1900 ई. में प्रकाशित हुआ। पहले वर्ष में इसके सम्पादक थे – **श्यामसुंदरदास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास रत्नाकर** और **किशोरीलाल गोस्वामी**। अगले वर्ष अर्थात् 1901 ई. में केवल श्यामसुंदरदास इसके सम्पादक रह गए। जनवरी, 1903 ई. में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन संभाला और 1920 ई. तक, बीच के दो वर्ष छोड़कर, वे इसका सम्पादन करते रहे।उनके सम्पादन काल में इसमें जो भी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, द्विवेदी जी ने न केवल उनकी भाषा को सुधारा, अपितु उनके भावों और विचारों को भी नियंत्रित किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा का संस्कार शुरू किया। उस समय खड़ी बोली में रचना करने वाले लेखक अलग-अलग रचना सिद्धांत रखते थे। अँग्रेज़ी, बंगला, संस्कृत आदि के काव्य के अनुसार कई शैलियाँ चल पड़ी थीं। द्विवेदी जी ने काव्य रचना के क्षेत्र में काव्य भाषा को परिमार्जित एवं स्थिर रूप देने के लिए कार्य किया। एक समर्थ आलोचक की भाँति उन्होंने विभिन्न रचनाकारों की रचना को सुधारा। भाषा को सजाने-संवारने का कार्य उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से किया। गद्य और पद्य की एक भाषा के लिए द्विवेदी जी ने अथक परिश्रम किया। उनकी लगन से ही खड़ी बोली का परिमार्जित रूप उभर कर सामने आया और पद्य और गद्य की भिन्न भाषा का झगड़ा दूर हो गया। मुख्य रूप से उन्होंने भाषा को प्रसाद गुण से युक्त, व्याकरण संबंधी अशुद्धियों से दूर, अभिव्यंजना शक्ति से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। रचनाकारों को उन्होंने, शब्दाडम्बर के साथ-साथ अश्लील और ग्राम्य शब्द प्रयोग से बचने का भी सुझाव दिया। उन्होंने लेखकों को देशज शब्द के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया। मुहावरों का प्रयोग तथा स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार एक कठोर शासक के समान उन्होंने भाषा के क्षेत्र में लेखकों को नियंत्रित किया। यह नियंत्रण उन्होंने सम्पादक होने से पहले ही प्रारंभ कर दिया था। 1901 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था – **''कविता का विषय मनोरंजन एवं उपदेशात्मक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत-अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त जीव, भिक्षु से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत-सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। .... यदि 'मेघनादवध' अथवा 'यशवंतराव महाकाव्य' वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थो को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए।''** (रसज्ञ रंजन, पृ. 23) द्विवेदी जी के इस निर्देश का पालन उनके युग के कवियों ने किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है।

'सरस्वती' में प्रकाशित होने अथवा प्रकाशित न होने वाले इस युग के सभी रचनाकार समान रूप से द्विवेदी जी से प्रभावित नहीं थे। कुछ पर उनका प्रभाव प्रत्यक्ष था, कुछ पर अप्रत्यक्ष और कुछ उनसे सर्वथा अप्रभावित थे। **बालकृष्णराव ने इस युग के कवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है -**

'प्रथम वर्ग तो उन कवियों का है, जो पहले से ही शास्त्रीय पद्धति पर काव्य-साधना में रत थे और द्विवेदी जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् उनके सिद्धांतों एवं विचारों के अनुकूल अपने को ढालते रहे। इन कवियों में प्रमुख हैं - श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा शंकर, सेठ कन्हैयालाल पौद्दार आदि। द्वितीय वर्ग उन कवियों का है जो द्विवेदी जी के प्रभाव से ही पनपे और जीवन-भर उनके आदर्शो पर चलते रहे। इनमें सर्वप्रमुख हैं - मैथिलीशरण गुप्त। इनके अतिरिक्त कामता प्रसाद गुरू, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, लक्ष्मीधर वाजपेयी, गोपालशरण सिंह आदि। तृतीय वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने उनका परोक्ष प्रभाव ग्रहण किया। इनमें प्रमुख हैं - गिरधर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, बदरीनाथ भट्ट, प्रसाद, पन्त और निराला।' (हिंदी साहित्य, तृतीय खण्ड, संपा, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा आदि)

ऐसा ही वर्गीकरण अन्य विधाओं के रचनाकारों का भी किया जा सकता है।

इन कवियों में एक पूरी धारा स्वच्छंदतावादी कवियों की है यथा श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और निराला। इनमें से निराला को छोड़कर शेष सभी 'सरस्वती' में उसी समय प्रकाशित हुए। फिर भी द्विवेदी जी के काव्यादर्श से इनका मेल नहीं बैठता इसलिए इन्हें 'सरस्वती' और द्विवेदी जी से स्वतंत्र रहकर साहित्य-सृजन करने वाला कहा जा सकता है। असल में इनकी काव्य-रचना द्विवेदी जी के काव्य-संस्कारों से मेल नहीं खाती थी। उनके काव्य-संस्कारों का कुछ अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वे जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' की कविता को सुमित्रानन्दन पन्त की कविता से हज़ार दर्जे अच्छा समझते थे। परवर्ती 'सरस्वती' सम्पादक पं. देवीदत्त शुक्ल के नाम लिखित अपने 5 सितम्बर 1929 के पत्र में उन्होंने लिखा था - **'कानपुर के पं. जगदम्बाप्रसाद बड़े अच्छे कवि हैं। सरस्वती के कविता-स्तम्भ को चमकाने के लिए मैंने उनसे कहा था कि आपको कभी-कभी कविता भेजा करें। उन्होंने शायद भेजा भी। पर पुरस्कार देना तो दूर आपने उन्हें सरस्वती तक न भेजी। अब भेजिए। पहाड़ी पन्त से उनकी कविता हज़ार दर्जे अच्छी होती है।'** (सम्मेलन-पत्रिका, भाग 68, सं. 1-2) आज हम जानते हैं कि इन दो कवियों में से कौन किससे हज़ार दर्जे अच्छी कविता लिखता था!

14.3.1 द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श

द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श क्या था, इसका कुछ आभास ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे मिल जाता है। सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि उपयोगितावादी थी। वे 'कला कला के लिए' नहीं मानते थे। वे साहित्य के माध्यम से लोगों की रुचि का परिष्कार करना चाहते थे। वे कविता को न तो शब्द-क्रीड़ा मानते थे और न ही मानसिक विलास की चीज़। हिंदी के कवि से उनकी अपेक्षा थी कि **'वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नयी कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए। पढ़ने वालों के मन में नयी-नयी उपमाओं को, नये-नये शब्दों को और नये-नये विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करना कवि ही का कर्तव्य है। जब लोगों का झुकाव इस ओर होने लगे तब समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की मनोहर शिक्षा दे।'** (रसज्ञ-रंजन, पृ. 29-30)

द्विवेदी जी का यह साहित्यादर्श बहुत दृढ़ था। उसमें क्रमशः थोड़ा-बहुत विकास तो हुआ, लेकिन मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। द्विवेदी जी ने रचना के सभी आयामों और सत् असत् पर ही विचार नहीं किया अपितु सत्साहित्य के आधारभूत सिद्धांतों का भी विवेचन किया है। उन्होंने लोकरुचि का भी परिष्कार किया तथा सत्साहित्य लेखन की प्रेरणा दी। यही कारण है कि द्विवेदी जी को युग-प्रवर्तक कहा जाता है। आचार्य

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के बारे में कहा है - 'निबंधों और समालोचनाओं द्वारा ये साहित्यिकों को निरंतर प्रेरणा देते रहे। द्विवेदी जी की समालोचनाओं ने जहाँ एक ओर तरुण साहित्यकारों को रूढ़िमुक्त होकर लिखने की प्रेरणा दी, दूसरी ओर कई कृती-साहित्यकारों को वाद-विवाद के क्षेत्र में उतरने और विचारोत्तेजक लेख लिखने का प्रोत्साहन दिया।'

14.4 द्विवेदी-युगीन गद्य साहित्य

गद्य-साहित्य की कई विधाओं की नींव भारतेंदु युग में पड़ गई थी, द्विवेदी युग में उनका विकास हुआ तथा कुछ नई गद्य-विधाओं ने जन्म लिया, जैसे, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, यात्रा विवरण, रेखाचित्र आदि। वस्तुतः इस युग में गद्य-साहित्य अपनी सभी विधाओं एवं दिशाओं में पूर्णतः उभरकर सामने आया। इन पर हम आगे विचार कर रहे हैं।

14.4.1 नाटक

नाटक भारतेंदु युग में एक केंद्रीय विधा थी, द्विवेदी युग में वह निर्जीव हो गई। जैसी सक्रियता, सजीवता और नाट्य-चेतना हमें भारतेंदु युग में दिखाई देती है वैसी द्विवेदी युग में नहीं। इसका एक कारण तो पारसी थियेट्रीकल कम्पनियों की सक्रियता है। इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करके धनार्जन करना था। इन कम्पनियों का 1853 ई. में अव्यावसायिक स्तर पर और 1867-69 ई. में व्यावसायिक स्तर पर प्रारंभ हो गया था। इन कम्पनियों को नाटकों की साहित्यिकता, युगीन प्रासंगिकता और कलात्मकता से कुछ लेना-देना नहीं था। इन कम्पनियों के लिए और पारसी रंगमंच से प्रभावित होकर नाटक लिखने वालों में नारायणप्रसाद 'बेताब', रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल, विश्वभंर सहाय 'व्याकुल', जनेश्वर प्रसाद 'मायल', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर', राधेश्याम कथावाचक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों का कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है। इन्होंने हिंदी नाटक में कुछ जोड़ा नहीं। इनमें से कुछ के नाटक बड़े लोकप्रिय हुए थे। जैसे विश्वंभर सहाय 'व्याकुल' का बुद्धदेव, जनेश्वर प्रसाद मायल का **सम्राट चन्द्रगुप्त,** राधेश्याम कथावाचक का **वीर अभिमन्यु** आदि।

इन नाटककारों के अतिरिक्त द्विवेदी युग में लगभग तीस नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने 'साहित्यिक' नाटक लिखे हैं। इन नाटककारों में से बद्रीनाथ भट्ट के ऐतिहासिक नाटक 'दुर्गावती' और उनके प्रहसनों, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा', माधव शुक्ल के 'महाभारत' को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। शिवनाथ शर्मा, गंगा प्रसाद श्रीवास्तव, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, प्रेमचन्द आदि ने भी नाटक लिखे, जिनमें से माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' को छोड़कर अन्य किसी नाटक को विशेष सफलता नहीं मिली। इसका कारण पारसी रंगमंच को छोड़कर किसी गंभीर रंगमंच का अभाव होना था। दूसरे, इस युग के साहित्यिक नेता महावीर प्रसार द्विवेदी की नाटक में कोई रुचि नहीं थी। नाटक विधा में उन्नति उस समय हुई जब जयशंकर प्रसाद ने इस विधा में लेखन किया। उन्होंने उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की रचना की।

14.4.2 उपन्यास

नाटक की तरह, द्विवेदी युग में उपन्यास भी बहुत समृद्ध नहीं है। जिन उपन्यासकारों ने भारतेंदु युग में उपन्यास लिखना प्रारंभ किया था, वही इस युग में भी उपन्यास लिख रहे थे। मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरी लाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ब्रजनन्दन सहाय, बलदेव प्रसाद मिश्र, मन्नन द्विवेदी, गंगाप्रसाद गुप्त, देवकीनन्दन खत्री, गोपाल राम गहमरी इत्यदि के अनेक उपन्यास द्विवेदी युग में भी प्रकाशित हुए, किंतु प्रवृत्ति की दृष्टि से वे भारतेंदु-युगीन उपन्यास ही हैं।

इन उपन्यासकारों के उपन्यासों ने हिंदी उपन्यास को किसी नई दिशा में नहीं मोड़ा। हिंदी उपन्यास को नई दिशा प्रदान की प्रेमचंद ने, जिनका हिंदी में पहला उपन्यास 'सेवासदन' 1918 ई. में प्रकाशित हुआ। यह प्रेमचंद का पहला उपन्यास नहीं था। इससे पूर्व उर्दू में वे कई उपन्यास लिख चुके थे। 'सेवासदन' भी हिंदी में प्रकाशित होने से पूर्व उर्दू में 'बाज़ारे-हुस्न' के नाम से लिखा जा चुका था। 'सेवासदन' ने हिंदी

उपन्यास को कोरे मनोरंजक उपन्यासों या कोरे उपदेशात्मक उपन्यासों से अलग करके सामाजिक-राजनैतिक जीवन की समस्याओं को गंभीरतापूर्वक स्वाभाविक लगने वाले कथानकों, यथार्थ प्रतीत होने वाले पात्रों, कलात्मकता और व्यंजना से परिपूर्ण भाषा के माध्यम से व्यक्त करने वाली नई दिशा में मोड़ा। प्रेमचंद की दृष्टि आदर्शवादी थी, किंतु उनकी शक्ति समस्याओं के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में थी। 'सेवासदन' का महत्त्व वेश्या-समस्या के आदर्शवादी समाधान में नहीं है, अपितु उस समस्या की यथार्थ और विश्वसनीय प्रस्तुति में है। असल में 1918 ई. से पहले का हिंदी उपन्यास, जिसे प्रेमचंद-पूर्व उपन्यास' भी कहते हैं, तैयारी मात्र है। न केवल हिंदी उपन्यास को, अपितु स्वयं प्रेमचंद को भी 'सेवासदन' में ही परिपक्वता का एक स्तर प्राप्त होता है।

14.4.3 कहानी

हिंदी में कहानी का जन्म द्विवेदीयुग में ही हुआ। हिंदी साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों ने हिंदी की पहली कहानी के रूप में जिन कहानियों की चर्चा की है वे हैं किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (1900 ई.), माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्‌टी' (1901 ई.), रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903 ई.), और बंगमहिला की 'दुलाईवाली' (1907 ई.)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा था - **''यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो यही हिंदी की पहली मौलिक कहानी ठहरती हैं।''** (पृष्ठ 462) बाद के अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया कि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया तो नहीं है, किंतु शेक्सपीयर के नाटक 'द टेम्पेस्ट' का भारतीयकरण के साथ हिंदी रूपांतर अवश्य है। वह मौलिक कहानी नहीं है और इसीलिए हिंदी की पहली कहानी के रूप में अमान्य है। यही बात 'एक टोकरी भर मिट्‌टी' के संबंध में भी कही जा सकती है। वह भी फिरदौसी के 'शाहनामा' की एक कथा 'नौशेखाँ का इन्साफ' पर आधारित है। शुक्ल जी की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' की मौलिकता पर आज तक किसी ने प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस तर्क के आधार पर इसे हिंदी की पहली कहानी नहीं माना है, उसे स्वीकार करना संभव नहीं है। उन्होंने लिखा है - **''यह कहानी ('ग्यारह वर्ष का समय') आधुनिकता के लक्षणों से युक्त अवश्य थी और किशोरी लाल जी की पूर्व-प्रकाशित दोनों कहानियों से श्रेष्ठ थी, फिर भी 'दुलाईवाली' में जैसा निखार है वैसा इसमें नहीं है।'** (हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृ. 244) 'निखार' का यह तर्क कोई तर्क नहीं है। इसलिए 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिंदी की पहली मौलिक कहानी माना जा सकता है।

द्विवेदी युग का पहला दशक हिंदी कहानी में प्रयोग का दशक है। इस दशक में पहली कहानी की रचना करने वाला कोई लेखक कहानीकार के रूप में विकसित नहीं हुआ। किंतु इसी दशक में वृंदावनलाल वर्मा की तीन कहानियाँ- 'राखीबंद भाई' (1909 ई.), 'तातार' (1910 ई.) और 'एक वीर राजपूत' (1910 ई.) प्रकाशित हुई और वर्मा जी हिंदी के श्रेष्ठ कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। द्विवेदी युग के दूसरे दशक में आगे कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित होने वाले कई कहानीकारों की पहली-पहली कहानियाँ प्रकाशित हुई। प्रसाद जी की 'ग्राम', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'सुखमय जीवन', 'बूद्धू का कांटा', और 'उसने कहा था', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कँगना', आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'गृह लक्ष्मी', प्रेमचंद की 'सौत' और 'पंच परमेश्वर' कहानियाँ 1910 ई. और 1916 ई. के बीच प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त जी.पी. श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, सुदर्शन इत्यदि की प्रारंभिक कहानियाँ भी इसी दशक में प्रकाशित हुईं। इस प्रकार, बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हिंदी कहानी की पुख्ता नींव पड़ी। प्रेमचंद और प्रसाद इसी दशक में कहानीकार के रूप में उभरकर सामने आए, जिन्होंने हिंदी कहानी को दो विशिष्ट शैलियाँ प्रदान कीं जिनके आधार पर इनके समकालीन और परवर्ती कहानियों को प्रेमचन्द स्कूल' और 'प्रसाद स्कूल' के कहानीकारों के रूप में वर्गीकृत किया जाने लगा।

14.4.4 निबंध

द्विवेदीयुगीन लेखक में वह आत्मीयता, अनौपचारिकता और सजीवता नहीं रह गई, जो भारतेंदु युगीन लेखक में थी। फलत: इस युग में लेख अधिक लिखे गए, निबंध कम। और **'अधिकतर लेख (भी) 'बातों के संग्रह' के रूप में ही रहते थे, लेखकों के अंत:प्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं।'** (रामचन्द्र

शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 466) इसलिए इस युग में जिन्हें सच्चा निबंधकार माना जा सकता है वे दो-चार ही हैं। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अधिकांशत: लेख ही लिखे हैं। इसी प्रकार, इस युग के लेखकों में श्यामसुंदरदास, मिश्र बंधु, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, अयोध्या सिंह उपाध्याय, माधवराव सप्रे, जनार्दनभट्ट, काशीनाथ जायसवाल, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इत्यादि लेखकार ही हैं, निबंधकार नहीं।

भारतेंदु और द्विवेदी युग की संधि पर विद्यमान सच्चे निबंधकार हैं – बालमुकुन्द गुप्त। निबंधकार के रूप में उनका यश 'शिवशम्भु के चिट्ठे और खत' पर आधारित है। इन चिट्ठों और खतों में गुप्तजी ने मुख्यत: अपने समकालीन अंग्रेज़ी शासन और उसकी नीतियों की आकर्षक ढंग से आलोचना की है। इनमें एक ओर तीखा व्यंग्य है तो दूसरी ओर पराधीन देश के नागरिक की पीड़ा। उन्हीं के समकालीन गोविन्दनारायण मिश्र भी 'कवि और चित्रकार', 'षड्ऋतु वर्णन', 'आत्माराम की टें-टें' जैसे गिने-चुने निबंधों के कारण उल्लेखनीय माने जाते हैं, यद्यपि उनकी भाषा ऐसी है जो अच्छे-अच्छों के दाँत खट्टे कर दे। उनकी शब्द-योजना और वाक्य-रचना बाणभट्ट की याद दिलाती है।

वस्तुत: द्विवेदी युग के तीन विशिष्ट निबंधकार हैं – माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, और सरदार पूर्ण सिंह। 'सुदर्शन' के सम्पादक के रूप में मिश्रजी ने राजनीति, साहित्य, तीर्थस्थानों, पर्व-त्योहारों आदि से संबंधित अनेक लेख लिखे, जिनमें विचारों के नीचे उनका व्यक्तित्व दबा रहा है। लेकिन 'सब मिट्टी हो गया', श्रीपंचमी', 'कुम्भपर्व', विजयादशमी', रामलीला', 'क्षमा' जैसे निबंधों में उनका भावुक, संवेगात्मक, राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण व्यक्तित्व खूब उभरकर सामने आया है। वे भारतीय संस्कृति, सनातन धर्म, संस्कृत भाषा और साहित्य आदि के प्रति ऐसे प्रतिबद्ध थे कि इनके विरोध में कही गई किसी बात को सहन नहीं कर पाते थे। वे अपने विरोधियों के विरुद्ध बड़े जोश से लिखते थे और उनकी लेखन-शैली में तर्क, आवेश और भावुकता का अद्‌भुत मिश्रण हो जाता था।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जितने प्रकाण्ड पण्डित थे उतने ही जीवन्त और सरस व्यक्ति थे। उनका पाण्डित्य, जीवंतता और सरसता उनकी सभी रचनाओं में विद्यमान हैं, लेकिन उनके निबंधों में ये विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ', 'काशी', 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'जय ज़मुना मैया की', 'होली की ठिठोली वा एप्रिल फूल' जैसे निबंधों में उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं के साथ-साथ उनकी प्रगतिशील दृष्टि भी अभिव्यक्त हुई है। हास्य, व्यंग्य और संदर्भ-बहुलता का उपयोग करते हुए अर्थगर्भित वक्रतापूर्ण भाषा-शैली में उन्होंने अपने निबंधों में अपने पाण्डित्य के बल पर रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर प्रहार किया है।

अंग्रेजी और पंजाबी में बहुत-कुछ लिखने वाले सरदार पूर्ण सिंह ने हिंदी में केवल छह निबंध लिखे हैं – 'सच्ची वीरता', 'कन्यादान' (नयनों की गंगा), 'पवित्रता', 'आचरण की सभ्यता', 'मज़दूरी और प्रेम' तथा 'अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन'। अपने इन्हीं निबंधों के कारण वे हिंदी में अमर हैं। उनके इन निबंधों में उनका व्यक्तित्व इतना अधिक व्यक्त हुआ है कि इनके आधार पर उनके व्यक्तित्व की पुनर्रचना की जा सकती है। सरल, भावुक, आदर्शवादी, काव्यमय, किसानों, गड़रियों और साधारण लोगों को हृदय का हार समझने वाले सरदार पूर्ण सिंह ही ऐसे निबंध लिख सकते थे। उनके ये निबंध विशेष मनोदशा को व्यक्त करने वाले हैं। इन निबंधों में निबंधकार कहीं कविता करने लगता है, कहीं विश्लेषण में रत हो जाता है, कहीं कहानी सुनाने लगता है और कहीं रेखाचित्र प्रस्तुत करने लगता है। अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू, पंजाबी के उद्धरण इन निबंधों में मोतियों की तरह पिरोये हुए हैं। भावना के अतिरेक ने भाषा को लाक्षणिक वैचित्र्य, चित्रात्मकता और आलंकारिकता प्रदान की है।

द्विवेदी युग में ही नहीं, अन्य कालों में भी सच्चे निबंधकारों की संख्या नहीं है, क्योंकि अच्छा निबंध लिखने के लिए अत्यंत सम्पन्न और सरल व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, जो दुर्लभ है।

14.4.5 आलोचना

हिंदी में जिस आलोचना का सूत्रपात भारतेंदु युग में हुआ, द्विवेदी युग में उसका विकास हुआ। आलोचना के क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक ओर जहाँ 'विक्रमांक-चरित् चर्चा', 'नैषधचरित् चर्चा', 'मेघदूत' में

संस्कृत कवियों का परिचय देकर तो दूसरी ओर 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिंदी कालिदास की आलोचना' आदि में भाषागत दोषों को रेखांकित करके अपना योगदान दिया। उनके इन आलोचनात्मक प्रयासों में मौलिकता का अभाव था। इसीलिए द्विवेदी जी के इन आलोचना-प्रयासों पर टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है - **'इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।'** (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 485) दरअसल द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादन और भाषा के सुधार-परिष्कार में इतने व्यस्त थे कि वे अन्य क्षेत्रों में बहुत मौलिक एवं महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके। उन्होंने विभिन्न विधाओं की जो रचनाएँ की हैं वे अन्य लेखकों को प्रेरित करने के लिए नमूने के तौर पर की हैं। 'कवि-कर्त्तव्य', 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता', 'कविता' जैसे सैद्धांतिक लेख भी कवियों को प्रेरित करने के लिए ही लिखे थे। इसलिए आलोचक के रूप में द्विवेदी जी का महत्त्व पथ-प्रदर्शक की दृष्टि से है, गंभीर विवेचन-विश्लेषण करके मूल्यांकन करने वाले आलोचक की दृष्टि से नहीं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी आलोचना को जहाँ तक पहुँचाया, उसे उससे आगे मिश्र बंधुओं ने बढ़ाया। उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' (1910-11) में नौ प्रतिष्ठित कवियों की आलोचना प्रस्तुत की, जिसमें एक ओर इन कवियों के काव्य को रस, ध्वनि, गुण, अलंकार आदि की दृष्टि से देखा गया था तथा दूसरी ओर कवियों की भाव संवेदना, विचारधारा, जीवनदृष्टि आदि पर भी कहीं-कहीं विचार किया गया था। मिश्रबंधु इन दोनों पक्षों को न तो समन्वित कर पाए और न ही गहरे जाकर इनका विश्लेषण कर पाए। उन्होंने कवियों के संबंध में तथ्यात्मक शोध भी की और उनकी परस्पर तुलना करके उन्हें छोटा-बड़ा भी सिद्ध किया। इसी से निर्णयात्मक आलोचना और तुलनात्मक आलोचना का प्रचलन हुआ। मिश्र बंधुओं की आलोचनात्मक उपलब्धि बहुत बड़ी नहीं है, किंतु उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने हिंदी आलोचना को गुण-दोष-दर्शन से आगे बढ़ाकर नयी दिशा में मोड़ा। उनकी दूसरी पुस्तक 'मिश्रबंधु विनोद' (1914, 34 : कुल चार खण्ड) आलोचना की दृष्टि से कम साहित्येतिहास की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक में उन्होंने हिंदी के नये-पुराने लगभग 5000 कवियों का जीवनवृत्त एवं संक्षिप्त काव्य-परिचय प्रस्तुत किया है। यह हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं है, लेकिन इतिहास की आधारभूत सामग्री अवश्य प्रस्तुत करता है। अपने साहित्येतिहास के लेखन में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इससे बहुत सहायता ली थी।

'हिंदी नवरत्न' में मिश्रबंधुओं ने देव को सबसे बड़ा कवि सिद्ध किया और यह सिद्ध करने के लिए बिहारी के काव्य में वे दोष भी दिखाये, जो उसमें हैं नहीं। इससे एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि देव बड़े हैं अथवा बिहारी। बिहारी के भक्त 'पद्मसिंह शर्मा' इसे सह नहीं पाये और उन्होंने बिहारी को देव से ही नहीं, अन्य कवियों से भी बड़ा सिद्ध करने के लिए मोर्चा खोल दिया। 'बिहारी की सतसई' में उन्होंने संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिंदी आदि के पद्यों के साथ तुलना करके बिहारी को बड़ा कवि सिद्ध किया। उनकी आलोचना का अंदाज़ महफिल में दाद देने वालों का है, किंतु कविता के अभिव्यंजना पक्ष का सूक्ष्म विवेचन भी उन्होंने किया है। उनके संबंध में नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कहना ठीक है कि **'ये अभिव्यंजना परीक्षा के आचार्य थे। शब्दगत और अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा अबाध प्रवेश था, हिंदी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया।'** (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ. 8)

देव और बिहारी संबंधी इस विवाद में अपनी पुस्तक देव और बिहारी' (1920 ई.) के द्वारा कृष्णबिहारी मिश्र ने देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया। उनकी आलोचना के औज़ार परंपरागत ही हैं, यद्यपि इन्होंने विवेचना की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न किया है। **'यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य हैं।'** (रामचन्द्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 487)।

14.5 द्विवेदी-युगीन कविता

इस युग में गद्य साहित्य की उपर्युक्त विधाओं के विकास के बावजूद केंद्र में कविता ही है। भारतेंदु युग में कविता की माध्यम भाषा को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ था। यह विवाद एक सीमा तक इस काल में भी बना हुआ है। 1909 ई. में 'कविता-कलाप' की भूमिका में द्विवेदी जी ने यह आशा व्यक्त की थी कि बहुत संभव है कि किसी समय हिंदी गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाये। (पृष्ठ 3) उनकी यह आशा जल्दी

ही पूर्ण हो गयी। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में ही कविता की भाषा के रूप में ब्रजभाषा पिछड़ रही थी, इसका प्रमाण यह है कि इस दशक में ब्रजभाषा की केवल आठ काव्य-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जब कि खड़ी बोली की सत्तरह। फिर भी द्विवेदी-युग में ब्रजभाषा में लिखी गयी कविता अपना अस्तित्व और महत्व बनाये रही।

14.5.1 ब्रजभाषा की कविता

इस युग में श्रीधर पाठक, रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शंकर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल, 'सनेही', लाला भगवानदीन, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरदयालु सिंह , सत्यनारायण कविरत्न आदि ऐसे कवि हैं, जो ब्रजभाषा में कविता लिखते रहे। इनमें से रत्नाकर, कविरत्न और हरदयालु सिंह को छोड़ कर शेष सभी कवि **'दोरंगी कवि थे, जो ब्रजभाषा में तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त-सवैया या गेय पदों में करते आते थे और खड़ी बोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे।'** (रामचन्द्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 572) इनमें से ब्रजभाषा के प्रति एकान्त समर्पित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और सत्यनारायण कविरत्न ने ब्रजभाषा-काव्य में वैशिष्ट्य प्राप्त किया। रत्नाकर की ब्रजभाषा कविता का चरम उत्कर्ष उद्धव शतक में विद्यमान है। उद्धव शतक का विषय, भाषा और शैली तीनों परंपरागत हैं, फिर भी इसमें ऐसा कुछ है जो ताज़गी का आभास देता है और आज भी आकर्षित करता है। यह ताज़गी गोपियों के परंपरागत रूप से किंचित भिन्न नये रूप में है। **'सूर की भावुकता और नन्ददास की तार्किकता से अलग रत्नाकर की गोपियों में जो वाग्वैदग्ध्य है, वह समूची भ्रमरगीत-परंपरा में एक नया आयाम जोड़ता है। यह वाग्वैदग्ध्य गोपी-उद्धव-संवाद की एक नयी शैली-भर नहीं है, इससे गोपियों के व्यक्तित्व में एक आत्मविश्वास-भाव के उदय की सूचना मिलती है।'** (रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 121) उद्धव शतक में ऐसे अनेक छंद हैं जिनमें गोपियों की हास्य, व्यंग्य, तर्कशीलता, बौद्धिक प्रखरता, गंभीरता, चुलबुलेपन, तटस्थता, संतुलन इत्यादि की प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं। जैसे, उद्धव के द्वारा उपदेशित प्राणायाम के विरोध में गोपियों का यह कथन -

> और हूँ उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ,
> साँस रोकिबै कौं कहा जोग की कुढंग है।
> कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति,
> जमुना तरंग है, तिहारौ सतसंग है।।

रत्नाकर ने दो कवित्त खड़ी बोली में लिखे थे किंतु सत्यनारायण कविरत्न ने अपनी सम्पूर्ण कविता ब्रजभाषा में ही लिखी। केवल कुछ वर्षों (1903 ई. -1918 ई.) के रचनाकाल में ही उन्होंने आधुनिक ब्रजभाषा काव्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। इसका कारण उनकी सरलता थी, जिसे उनके ये शब्द प्रमाणित करते हैं -

> सदा दारु-योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै।
> कोरो सत्य ग्राम कौ बासी कहा तकल्लुफ जानै।।

उनका 'तकल्लुफ' न जानना ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वे जैसा अनुभव करते थे और जैसी ब्रजभाषा बोलते थे, उसे वैसी की वैसी भाषा में व्यक्त कर देते थे। इसलिए उनकी कविता, चाहे भक्ति भाव की हों, राष्ट्र प्रेम की हों, निजी जीवन की त्रासदी की हों अथवा समसामयिक घटनाओं और व्यक्तियों से संबंधित हो, इतनी सहज और प्रभावशाली बन पड़ी हैं कि कोई उनकी मर्मस्पर्शिता से बच नहीं सकता।

14.5.2 खड़ी बोली की कविता

द्विवेदी युग की हिंदी कविता को सबसे बड़ी देन खड़ी बोली को कविता की माध्यम-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना है। खड़ी बोली में दोरंगी कवियों की कविताओं का महत्व अवश्य है, लेकिन उनसे अधिक महत्त्व उन कवियों की कविताओं का है जो इसी युग की उपज हैं और जिन्होंने खड़ी बोली में कविता लिखी है। ऐसे कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, रामचरित

उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तो अपने आप में ही एक वर्ग हैं।

द्विवेदी जी ने कविता के माध्यम से भी पथ-प्रदर्शक का ही काम किया। उन्होंने अपने युग के कवियों को गद्य के माध्यम से ही नहीं, पद्य के माध्यम से भी नए विषयों को अपनाने की प्रेरणा दी। फलत: हिंदी कविता से रीतिकालीन विषय-संकोच दूर हुआ और कवि तमाम नए विषयों पर कविता लिखने लगे। नए विषयों पर लिखी गई बहुत-सी कविता पद्य से आगे कम ही बढ़ सकी है। इस पद्य में उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मंकता, निबंधात्मकता और वक्तृत्त्व की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं।

द्विवेदी युगीन कविता की मूल प्रवृत्ति **राष्ट्रीयता** की भावना है, जो अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में प्रसृत है और जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है -

हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी;
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।

(भारत-भारती, पृ. 11)

इस युग का कवि जब अपने अतीत की ओर देखता है तो उसे गर्व होता है। वह अनुभव करता है कि भारतवर्ष संसार का सिरमौर है -

हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातनदेश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भवभूतियों का यह प्रथम भण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।

(भारत-भारती, पृ. 12)

अतीत के प्रति यह गर्व की भावना भारतेंदु युग के कवि ने भी अनुभव की थी। द्विवेदी युग में इस भावना में अधिक विशदता, अधिक प्रखरता आयी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ कि कविगण अतीत के गौरव में ही खोकर रह जाएँ। वे वर्तमान की अधोगति से भी परिचित हैं और उसके कारणों को भी जानते हैं।

अब कमल क्या, जल तक नहीं, सर-मध्य केवल पंक है;
वह राज-राज कुबेर अब हा! रंक का भी रंक है।

(भारत-भारती, पृ. 82)

वर्तमान भारत तो दारिद्र्य, दुर्भिक्षों, व्याधियों, कुसंस्कारों, चरित्रहीनता, अविद्या, अशिक्षा, आडम्बर, अंधविश्वास, पारस्परिक कलह, अभाव, दासता इत्यादि से भरा हुआ है। इनसे मुक्त होने के लिए आवश्यक है एकजुट होकर बुराइयों को त्यागकर उठ खड़े होना -

उठो त्याग दें द्वेष, एक ही सबके मत हों।
सीख ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल उन्नत हों।
भारत की उन्नति सिद्धि से हम सबका कल्याण है।
दृढ़ समझो इस सिद्धांत को, हम शरीर यह प्राण है।

(रामनरेश त्रिपाठी)

आधुनिक काल में **मध्यकालीन जड़ता से मुक्ति बौद्धिकता** के कारण मिली है। द्विवेदी युग में बौद्धिकता की प्रबलता ने भावुकता को दबाया है। इसी बौद्धिकता का परिणाम है कि इस युग का कवि पुरातन अतिमानवीय प्रसंगों की पुनर्व्याख्या करके उन्हें मानवीय संभवनीयता प्रदान करता है, प्राचीन अतिमानवीय चरित्रों को मानवीय रूप प्रदान करता है, परंपरागत आध्यात्मिक मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लगाता है, मनुष्य की अमित संभावनाओं को स्वीकार करता है इत्यादि। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध आदि कवियों के द्वारा चित्रित राम, कृष्ण, सीता, राधा आदि अपनी मध्यकालीनता त्यागकर एक विशेष अर्थ में 'आधुनिक' बन गए हैं। द्विवेदी युगीन कवि के द्वारा चित्रित यशोधरा ही, मुक्ति जैसे सबसे बड़े आध्यात्मिक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगा सकती थी और राधा समाज-सेविका बन सकती थी। मैथिलीशरण गुप्त का 'नहुष' ही कह सकता है -

मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया स्वर्ग भी
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।

('नहुष' काव्य)

क्योंकि मैथिलीशरण गुप्त मानते हैं कि 'मैं मनुष्यता को सुरक्षा की जननी भी कह सकता हूँ।' (लक्ष्मण, 'पंचवटी') यह मानवतावादी दर्शन द्विवेदी युग की मूल जीवन-दृष्टि है, यद्यपि इस मानवतावाद में पर्याप्त प्रखरता और प्रसार नहीं है। इसलिए वह विरोधी जीवन-दृष्टियों से टकराता नहीं है।

द्विवेदी युगीन बौद्धिकता ने इस काल को **इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक** बनाया है। सौंदर्य-चित्रण तक में यह प्रवृत्ति विद्यमान है। सौंदर्य चाहे स्त्री का हो, प्रकृति का हो अथवा किसी भाव का हो, कवि कुछ चीज़ों के नाम गिना देने या कुछ तथ्यों का उल्लेख कर देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझता है। हरिऔध 'प्रियप्रवास' में ब्रज की प्रकृति के चित्रण के प्रसंग में जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निम्ब, फलसा, जम्बीर, आँवला, लीची, दाड़िम, नारियल, इमली, शिंशपा, इंगुदी इत्यादि न जाने कितने नाम गिनाते हैं लेकिन करील को भूल जाते हैं। (नवम् सर्ग, पृ. 100) किंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय जैसे कवि इसके अपवाद भी हैं। उन्होंने स्व-निरीक्षित प्रकृति के सुंदर सजीव चित्र भी अंकित किए हैं।

द्विवेदी युग में गद्यात्मकता कितनी अधिक थी, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि किस प्रकार पद्य को अपनी ओर से एक शब्द जोड़े बिना भी सहज गद्य में बदला जा सकता है। 'प्रियप्रवास' का पहला ही छंद है -

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर भी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।।

इसे गद्य-रूप में इस प्रकार पढ़ा जा सकता है - 'दिवस का अवसान समीप था। गगन कुछ लोहित हो चला था। अब तरुशिखर पर कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रजा राजती थी।' कविता में इससे ज्यादा गद्यात्मकता और क्या हो सकती है। यह गद्यात्मकता भाषा की नहीं है, अपितु अनुभव की है।

कविता की माध्यम **भाषा के रूप में खड़ी बोली** द्विवेदी युग में काफी लंगड़ा-लंगड़ा कर चली है। कविता में या गद्य में भी खड़ी बोली की कोई पुष्ट परंपरा न होने के कारण उसका व्याकरणिक रूप भी धीरे-धीरे स्थिर हुआ है और शब्दावली भी। द्विवेदी युगीन कवियों की कविता में व्याकरण संबंधी अनेक त्रुटियाँ मिल जाएंगी। व्याकरणिक व्यवस्था की तरह ही कविता की शब्दावली की समस्या भी इस युग के कवि के सामने है। उसके सामने प्रश्न यह है कि वह संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करे अथवा अरबी-फारसी

मूल के शब्दों का अधिक प्रयोग करे अथवा बोलचाल में प्रयुक्त शब्दों का अधिक प्रयोग करे? इस दुविधा के सर्वोत्तम उदाहरण हमें 'हरिऔध' के काव्य में मिलते हैं। तमाम प्रयोगों के बाद यह पाया गया कि हिंदी की प्रकृति तीसरे विकल्प के अनुकूल है। इसलिए काव्यभाषा का आदर्श रूप मैथिलीशरण गुप्त ने वैसे ही प्रस्तुत किया जैसे गद्य भाषा का आदर्श रूप प्रेमचंद ने प्रस्तुत किया। यह रूप था -

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है।
सूर्यचन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह सूर्य-तारे मण्डन हैं।
वन्दी विविध विहंग शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।।

(सरस्वती, मार्च 1911 ई.)

द्विवेदी युगीन कवियों ने काव्यभाषा का स्वरूप स्थिर कर आगे चलकर उसे अधिक मधुर, अधिक कलात्मक और अधिक अभिव्यंजनात्मक बनाने का छायावादी कवियों का कार्य सुगम बना दिया।

द्विवेदी युगीन कवियों ने छंदो, अलंकारों, काव्य-रूपों आदि के क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोग किए। उन्होंने पुराने छंदों को लोकप्रिय बनाया। हरिगीतिका इसका सुंदर उदाहरण है। संस्कृत के वर्णवृत्तों का पहली और अंतिम बार इतना अधिक प्रयोग हुआ। घनाक्षरी में फेरबदलकर गुप्तजी ने 'नहुष', 'सिद्धराज' आदि में और सियारामशरण गुप्त ने 'बापू' में नए छंद निर्मित किए। इस युग के कवियों ने बंगला और उर्दू की लय के आधार पर भी छंद-संबंधी कुछ प्रयोग किए। अलंकारों के क्षेत्र में नए उपमानों को अपनाने की प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई। परंपरागत मुक्तक काव्यरूपों के साथ-साथ नए काव्यरूप इस युग के कवियों ने निर्मित किए। गीत का मूल ढाँचा इस युग के कवियों के द्वारा निर्मित हुआ। गीतिकाव्य के विभिन्न रूपों का प्रयोग भी इस युग के कवियों ने किया, यद्यपि उन्होंने प्रेरणा बंगला, उर्दू और अंग्रेज़ी काव्य से ली। काव्यरूप के क्षेत्र में इस युग के कवि की सबसे बड़ी देन प्रबंध-काव्य के क्षेत्र में है। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'रामचरित चिन्तामणि', 'जयभारत' जैसी महाकाव्य होने का दावा करने वाली रचनाएँ इसी युग के कवियों की देन हैं। इस युग के कवियों ने खण्ड-काव्य तो इतने अधिक लिखे हैं जितने इनसे पहले या इनके बाद के कवियों ने कभी नहीं लिखे। ये शिल्पगत प्रयोग इस युग की विशेष मनोभूमि का पता देते हैं।

14.6 सारांश

यह युग भारतेंदु युगीन प्रवृत्तियों का अधिक विकसित और वैविध्यपूर्ण रूप है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों के स्वाधीनता आंदोलन ने इस युग के साहित्य को एक सीमा तक ही प्रभावित किया है। इसका कारण एक तो साहित्यकार का मध्यवर्गीय चरित्र है, और दूसरे सरस्वती और उसके सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नियंत्रण और निर्देशन है। एक पत्रिका और एक व्यक्ति ने पूरे युग को किस प्रकार और कितना नियंत्रित किया, इसका उदाहरण द्विवेदी युग के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। इस युग के साहित्यिक आदर्श और जीवन-दृष्टि सामान्यतः द्विवेदी जी की देन है। इस युग में जिन अनेक गद्य-रूपों का विकास हुआ है, उन पर द्विवेदी जी का प्रभाव तो है, लेकिन कविता की अपेक्षा कम, क्योंकि द्विवेदी जी की रुचि जितनी भाषा-निर्माण में थी, उतनी साहित्य-निर्माण में नहीं। साहित्य-निर्माण में भी उनकी जितनी रुचि कविता में थी उतनी गद्य-साहित्य में नहीं। संभवतः इसीलिए गद्य-साहित्य के विकास के बावजूद इस युग में केंद्र में कविता ही है। युग की माँग और द्विवेदी जी के प्रभाव के कारण इस काल में ब्रजभाषा की कविता पिछड़ी और खड़ी बोली की कविता प्रतिष्ठित हुई। इस युग में अंततः यह निर्णय हो गया कि खड़ी बोली न केवल गद्य का अपितु कविता का भी सशक्त माध्यम हो सकता है।

14.7 प्रश्न/अभ्यास

1. द्विवेदी युग के प्रमुख निबंधकार कौन-कौन से हैं? उनकी कृतियों का उदाहरण देते हुए चर्चा कीजिए।

2. महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आदर्शों का विवेचन कीजिए।

3. द्विवेदीयुगीन खड़ी बोली की कविता की प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।

4. आलोचना के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान की चर्चा कीजिए।

इकाई 15 छायावाद

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 स्वच्छंदतावाद और छायावाद
15.3 प्रवर्तन का प्रश्न
15.4 परिभाषा की समस्या
  15.4.1 छायावाद और रहस्यवाद
  15.4.2 स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह
15.5 छायावाद की मूल प्रवृत्तियाँ
15.6 सारांश
15.7 प्रश्न/अभ्यास

15.0 उद्देश्य

आधुनिक हिन्दी काव्यधारा के विकास में छायावाद का महत्वपूर्ण स्थान है। छायावाद ने न केवल अंतर्वस्तु के स्तर पर अपितु काव्य भाषा और संरचना की दृष्टि से भी हिन्दी कविता को समृद्ध किया है। इस इकाई में छायावाद की इन्हीं विशिष्टताओं से आपका परिचय कराया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- स्वच्छन्दतावाद और छायावाद के अंतर्संबंध को जान सकेंगे;
- छायावाद के अर्थ और स्वरूप से परिचित हो सकेंगे;
- छायावाद और संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा के संबंध की चर्चा कर सकेंगे; और
- छायावाद की मूल प्रवृत्तियों की जानकारी दे सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

हिंदी की रोमांटिक स्वच्छंदतावादी काव्यधारा की विकसित अवस्था को 'छायावाद' नाम से जाना जाता है। उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों और ह्रास के कारणों के बारे में अब कोई उल्लेखनीय विवाद नहीं रह गया है। बीसवीं शताब्दी के हिंदी कविता के सबसे समर्थ और महत्वपूर्ण काव्यांदोलन के रूप में छायावाद की स्वीकृति के बारे में व्यापक सहमति है। शताब्दी के आरंभ में जब काव्य-प्रवृत्ति के लक्षण दिखाई पड़े, तब जिस बात ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, वह थी रीतिकालीन काव्य-रूढ़ियों से मुक्ति।

अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ब्रजभाषा को अपदस्थ करने के लिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पहले ही व्यापक आंदोलन चला चुके थे। आपने इकाई सं-14 'द्विवेदी युग' में पढ़ा कि द्विवेदी जी के प्रयत्नों से, खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित भी हो चुकी थी। पर जैसा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है : "उसी समय पिछले संस्कृत-काव्य के संस्कारों के साथ पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य-क्षेत्र में आए - जिससे इतिवृत्तात्मक (मैटर ऑफ़ फ़ैक्ट) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा।'' यानी काव्य-भाषा तो खड़ी बोली हो गई, पर काव्य-शैली में रीतिकालीन चमत्कारात्मकता, सरसता, विदग्धता आदि का स्थान इतिवृत्तात्मकता ने ले लिया। आज शुक्ल जी की यह स्थापना निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि रीतिकाल की रूढ़ियों को तोड़कर "स्वच्छंदता का आभास पहले-पहल पं. श्रीधर पाठक ने ही दिया।'' और "सब बातों का विचार करने पर पं. श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (रोमैंटिसिज्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं।'' किन्तु इस स्वच्छंतावाद के स्वाभाविक विकास की जो रूपरेखा आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत की है, उसके बारे में बाद के विद्वानों में सहमति नहीं हो सकी। शुक्ल जी ने श्रीधर पाठक की कविता में जिसे "सच्ची और

स्वाभाविक स्वच्छंदता का मार्ग'' कहा उनके अनुसार वह "हमारे काव्य-क्षेत्र के बीच चल न पाया''। जिन "इने-गिने नए कवियों'' में आचार्य शुक्ल ने 'स्वच्छंदता के स्वाभाविक पथ' का विकास देखा उनमें उन्होंने रामनेरश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', उदयशंकर भट्ट जैसे कवियों की तो गणना की, पर उनमें जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा आदि को स्थान नहीं दिया। उनका कहना था कि 'रवींद्र बाबू की गीतांजलि की धूम उठ जाने के कारण नवीनता प्रदर्शन के इच्छुक नए कवियों में से कुछ लोग तो बंग भाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूपरेखा लाने में लगे, कुछ लोग पाश्चात्य काव्य-पद्धति को 'विश्व-साहित्य' का लक्षण समझ उसके अनुकरण में तत्पर हुए।'' उनके इस कथन में इशारा उन कवियों की ओर ही है जिन्हें बाद में 'छायावाद' के कवियों के रूप में जाना गया। आचार्य शुक्ल ने इन्हें उन कवियों से अलग करके देखा जिन्हें वे 'स्वच्छंदतावाद' के भीतर गिनते थे और उनकी कविता में 'सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता' के दर्शन करते थे।

15.2 स्वच्छंदतावाद और छायावाद

हिंदी में इस प्रकार 'रोमैंटिसिज़्म' के लिए 'स्वच्छंदतावाद' शब्द आ जाने के बाद छायावादी कविता को आरंभिक स्वच्छंद काव्य-धारा से ही नहीं, बल्कि उसकी परवर्ती परंपरा से भी अलग करके देखने की परिपाटी चल पड़ी। इसी बीच हिंदी की रहस्यात्मक कविताओं की चर्चा के प्रसंग में अंग्रेज़ी के 'मिस्टिसिज़्म' शब्द का उल्लेख किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आरंभ में बहुत दिनों तक छायावादी कविताओं के लिए 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग भी होता रहा। पर वास्तविकता यह है कि शुक्ल जी ने जिन कवियों की कविताओं में 'सच्चे स्वच्छंदतावाद' का स्वरूप देखा था, उनके 'सच्चे स्वच्छंदतावाद' में भी और बातों के अलावा 'रहस्यपूर्ण संकेत' मौजूद है। इसलिए केवल राविन्द्रिक प्रभाव के अनुमान के कारण छायावाद को स्वच्छंदतावादी काव्य-परंपरा से बाहर नहीं किया जा सकता। छायावाद के आरंभ में होने वाले तात्कालिक विवादों का कोलाहल शांत हो जाने के बाद अब यह बात भली-भाँति स्पष्ट होकर सामने आ चुकी है कि 'छायावाद' हिंदी की अपनी रोमैंटिक अथवा स्वच्छंदतावादी काव्यधारा की ही विकसित अवस्था है। इसके पहले चरण के कवि हैं श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि जिन्हें आ. शुक्ल 'सच्चे स्वच्छंदतावादी' कहते थे और दूसरे चरण में इसी काव्य-प्रवृत्ति को प्रौढ़तम उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी थे जिन्हें 'छायावाद' के कवि माना जाने लगा।

15.3 प्रवर्तन का प्रश्न

छायावाद का आरंभ किस कवि की किस रचना से माना जाए यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। सुमित्रानंदन पंत ने अपनी पुस्तक 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने प्रसाद को छायावाद का प्रवर्तक मानने के पक्ष में 'भावना की दृष्टि से आदर' व्यक्त किया। पर लगे हाथों 'तथ्य-विश्लेषण की दृष्टि से' उन्होंने इस मान्यता का विरोध किया। इस बारे में उन्होंने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं उनका सार यही है कि "सन 1919 में प्रकाशित 'झरना' के प्रथम संस्करण की 24 कविताओं में 'कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिस पर ध्यान जाता। दरअसल छायावादी प्रवृत्ति से युक्त प्रसाद जी की कविताएँ 'झरना' के दूसरे संस्करण में पहली बार सन् 1927 में ही प्रकट हुईं। इसके अलावा उनके 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक' आदि काव्य सन् 1923 के बाद ही प्रकाश में आए। इनमें से 'कानन-कुसुम' में द्विवेदी-युग के ढंग की ही रचनाएँ थीं। पंत जी का दावा है कि "मेरी प्राय: सभी 'पल्लव' में प्रकाशित रचनाएँ दो वर्ष पूर्व से अर्थात् सन् 1923 के मध्य से सरस्वती में प्रकाशित होने लगी थीं।'' इसके अलावा उनके 'वीणा' नाम के गीत-संकलन की रचना सन् 1918-19 में और 'ग्रंथि' नामक काव्य की रचना सन् 1919 में की जा चुकी थी। उनकी पहली लम्बी रचना 'स्वप्न' का प्रकाशन भी सन् 1920 की सरस्वती में हो चुका था। जहाँ तक लिख लिए जाने का प्रश्न है, निराला जी का कहना था कि 'जूही की कली' तो उन्होंने सन् 16 में ही लिख डाली थी। यह बात अलग है कि 'जूही की कली' का कथ्य रीतिकालीन सा है पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य एवं छंद-मुक्ति, सभी दृष्टियों से यह कविता हिंदी काव्य में एक स्पष्ट मोड़ की सूचक है। पंत जी ने अपनी मान्यता के समर्थन में

'झरना' के बारे में शुक्ल जी का निम्नलिखित कथन उद्धृत किया - ''झरना' के द्वितीय संस्करण में छायावाद कही जाने वाली विशेषताएँ स्फुट रूप में दिखाई पड़ीं। इससे पहले 'पल्लव' बड़ी धूमधाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य-भावना तो कहीं-कहीं पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यंत प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।''

अगर 'झरना' के पहले प्रकाशित कविताओं में छायावादी प्रवृत्तियों का प्रश्न उठाया जाए, तो सन् 1922 में प्रकाशित 'अनामिका' की उपेक्षा नहीं की जा सकती। और यदि निराला जी के कथन को प्रमाण मान लिया जाए तो 'वीणा' और 'ग्रंथि' से पहले 'जूही की कली' की रचना हो चुकी थी। इसके अलावा, एक ओर 'सरस्वती' में पंत की फुटकर रचनाएँ प्रकाशित हो रही थीं और दूसरी और 'मतवाला' औंर 'समन्वय' आदि पत्रिकाओं में निराला का फुटकर काव्य प्रकाशित हो रहा था। 'सरस्वती' में स्थान पा जाने के कारण पंत जी ने उस समय विद्वत समाज का ध्यान सबसे ज्यादा आकर्षित किया, पर इसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद की कटु आलोचनाओं का भार भी सबसे ज़्यादा उन्हीं के सुकुमार व्यक्तित्व को झेलना पड़ा। यह बात अलग है कि छायावाद के कवियों में उनका काव्य, आचार्य शुक्ल को इसलिए सबसे अधिक रास आया क्योंकि वे अभिव्यंजना के टेढ़े-रास्ते छोड़कर शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर चलने वाली कविता को लोक-जीवन के अधिक निकट मानते थे। अन्य कवियों की रहस्य-भावना में जहाँ उन्हें साम्प्रदायिकता की गंध आने लगती थी वहाँ पंत जी की रहस्य-भावना उन्हें स्वाभाविक प्रतीत होती थी, और इस दृष्टि से वे उन्हें शुद्ध स्वच्छंदतावाद के सबसे अधिक निकट जान पड़ते थे। उनका मानना था कि 'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्तन' और 'बादल' आदि रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग (True romanticism) पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित करने वाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलने वाला हृदय प्राप्त था।''

'पल्लव' में जो गिनी चुनी ('स्वप्न' 'मौन निमंत्रण' आदि) रहस्यमूलक रचनाएँ संकलित थीं, उनके बारे में आचार्य शुक्ल ने कहा था कि ''पंत जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक (Dogmatic) नहीं। ऐसी रहस्य-भावना इस रहस्यमय जगत के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है। व्यक्त जगत के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करता हुआ कवि इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में प्रकट करता है।''

यदि प्रकृति की ओर आकर्षित होने वाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलने वाला हृदय छायावादी हो सकता है तो इस काव्य-प्रवृत्ति का श्रेय श्रीधर पाठक को दिया जा सकता है और यदि असाम्प्रदायिक रहस्य-भावना की दृष्टि से देखा जाए तो रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' की पहली प्रतिध्वनि मुकुटधर पाण्डेय के काव्य में सुनाई पड़ती है। परंतु छायावाद न केवल प्रकृति-प्रेम है और न ही केवल रहस्य-भावना है। वह वस्तुत: एक विशेष सौंदर्य-दृष्टि का उन्मेष है। रहस्योन्मुखता, प्रकृति-प्रेम आदि उसी की अभिव्यक्ति की विविध सरणियाँ हैं। इस समग्र सौंदर्य-दृष्टि का आभास प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में ही मिलने लगा था। 'कामायनी' उनकी आरंभिक रचना 'प्रेम पथिक' की ही सहज स्वाभाविक परिणति है।

निष्कर्ष यह है कि छायावाद का प्रवर्तन किस कवि की किस रचना से हुआ इसका एकदम ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है। वस्तुत: सुमित्रानंदन पंत ने छायावाद के आरंभ के विषय में जो कहा उसमें काफी सार है : **''मेरे विचार से छायावाद की प्रेरणा छायावाद के प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतंत्र रूप से मिली है। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहले उस धारा का प्रवर्तन किया हो और दूसरों ने उसका अनुगमन कर उसके विकास में सहायता दी हो।''** यह बात इसलिए और भी सही है कि किन्हीं समानताओं के रहते भी छायावाद के कवियों में विविधता और भिन्नता भी कम नहीं है।

15.4 परिभाषा की समस्या

छायावादी काव्य को एक परिभाषा में बाँधना कठिन काम है। छायावाद व्यक्ति-केंद्रित काव्य था और उसमें प्रत्येक कवि के निजी वैशिष्ट्य और विलक्षणता पर विशेष बल दिया गया था। कठिनाई के बावजूद, छायावादी कवियों में प्राप्त सामान्य विशेषताओं को रेखांकित करना आवश्यक है, क्योंकि इस बात से इंकार

नहीं किया जा सकता कि बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंत से हिंदी कविता में महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुआ। भले ही 'छायावाद' शब्द से उस घटना का पूरा-पूरा बोध न होता हो। यह भी हो सकता है कि हम इस शब्द के बिना ही काम चलाना चाहें, किंतु यह शब्द जिस परिवर्तन की ओर संकेत करता है, उसकी परिभाषा करने की जिम्मेदारी से बचना संभव नहीं है।

किसी समय ऐसी ही कठिनाई अंग्रेज़ी की रोमैंटिक काव्यधारा के बारे में सामने आई थी। 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर' में यह स्पष्ट कहा गया है कि अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों के बीच सामान्य विशेषताओं का निर्देश करना असंभव है। फिर भी आलोचक इस युग की सामान्य प्रवृत्तियों का निरूपण करने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे हैं। इस प्रसंग में अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवि 'शैली' का यह कथन ध्यान देने योग्य है -

''किसी विशेष काल-खंड के सभी लेखकों के बीच अनिवार्य रूप से एक समानता होती है जो उनकी अपनी इच्छाशक्ति पर निर्भर नहीं रहती। वे उस सामान्य प्रभाव से बच नहीं सकते जो उनकी सामाजिक परिस्थितियों के असंख्य सम्मुंजनों से उत्पन्न होता है। एक सीमा तक प्रत्येक कवि स्वयं भी उस प्रभाव का विधाता होता है जो उसकी सत्ता में परिव्याप्त रहता है।'' कुछ-कुछ ऐसी ही बात हिंदी के छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी कही है कि : **''चारों दिशाओं से स्वतंत्र रूप से नई काव्य-चेतना की धाराएँ बहकर छायावाद के युगचरितमानस में संचित हुई।''**

देखा जाए तो छायावाद की परिभाषाएँ दो दृष्टियों से की गई हैं - व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक।

'छायावाद' की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या का एक निश्चित इतिहास है। आरंभ में यह नाम 'छायावाद' की तथाकथित सीमाओं के वाचक के रूप में, उसकी खिल्ली उड़ाने के लिए दिया गया। बाद में उपहास को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए, विद्वानों ने इसी शब्द की अत्यंत गंभीर व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत कर इसे छायावादी काव्य-प्रवृत्ति से जोड़ दिया। इस प्रकार आरंभ में जो शब्द उपहास करने के लिए प्रयोग में लाया गया था, वही उस काव्य-प्रवृत्ति के लक्षणों का बोध कराने लगा।

'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित कुछ कार्टूनों और लेखों में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग इस काव्य की अस्पष्टता, धूमिलता आदि का बोध कराने के लिए किया गया। इसके बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस शब्द का संबंध पुराने ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) से जोड़कर इसे ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का आधार दे दिया। उनका कहना था कि : ''पुराने ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं।''

शुक्ल जी ने छायावाद के साथ रहस्यवाद का संबंध एक बार जोड़ दिया तो इस पर परवर्ती विद्वानों ने अपना मतभेद व्यक्त किया। आइए, अब हम छायावाद और रहस्यवाद के संबंधों की चर्चा करें।

15.4.1 छायावाद और रहस्यवाद

शुक्ल जी ने एक ओर तो छायावाद को मध्ययुगीन रहस्य-भावना का नया संस्करण कहा : ''कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ ज्ञानवाद और सूफ़ीवाद के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले यह हम पहले दिखा आए हैं। उसी भावात्मक रहस्य-परंपरा का यह नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है।'' दूसरी ओर उन्होंने छायावाद को वेदांत के प्रतिबिम्बवाद का नया संस्करण माना : ''जो 'छायावाद' नाम से प्रचलित है वह वेदांत के पुराने 'प्रतिबिम्बवाद' का है।'' वस्तुत : यह 'प्रतिबिम्बवाद' सूफ़ियों के यहाँ से होता हुआ यूरोप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंग साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। इस तरह यह शब्द काव्य में 'रहस्यवाद' के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धांत का द्योतक शब्द है।

आचार्य शुक्ल अपने युग के प्रतिनिधि आलोचक थे। उनकी स्थापनाओं की उपेक्षा करना समकालीन कवियों के लिए संभव नहीं था। उनकी आशंसा को कविता के लिए प्रमाण-पत्र समझा जाता था और आलोचना को

चुनौती। शुक्ल जी ने 'छायावाद' शब्द का संबंध वेदांत के प्रतिबिम्बवाद से जोड़कर उसे दार्शनिकता प्रदान की पर साथ ही रहस्योन्मुखता को इस काव्यधारा की निजी विशेषता न मानकर बाहरी प्रभाव कहा। उन्होंने छायावाद की पहली सुसम्बद्ध व्याख्या करते हुए 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में माना। उसका एक अर्थ उन्होंने रहस्यवाद लिया जिसका संबंध "काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।'' वस्तुत: छायावाद में 'मिस्टिसिज़्म' या रहस्यमयता ढूँढ़ने की प्रवृत्ति पहले से ही चली आ रही थी। पं. मुकुटधर पाण्डेय ने सन् 1920 में 'श्री शारदा' नामक पत्रिका में छायावाद पर एक लेखमाला प्रकाशित की थी उसमें वे बंगला साहित्य में प्रचलित रहस्यवादी रंग की रचनाओं और हिंदी के छायावादी काव्य के बीच तारतम्य निरूपित कर चुके थे। उन्होंने छायावाद में "धर्म-भावुकता और आध्यात्मिकता'' की निर्द्वंद्व स्थापना आचार्य शुक्ल की अपेक्षा कहीं अधिक आग्रहपूर्वक पहले ही कर दी थी : "यहाँ छायावादिता से आत्मिकता तथा धर्म-भावुकता का मेल होता है। यथार्थ में उसके जीवन के ये दो मुख्य अवलम्ब हैं। अतएव छायावाद के कवि इन दोनों क्षेत्रों की सीमा से बहुत कम बाहर निकल सके हैं। वे प्राय: 'अजोनित्य:शाश्वतोऽयं पुराणों' तथा 'वृहच्यतछिव्यमचिन्त्यरूपम' के गूढ़ातिगूढ़ रहस्य में ही मग्न रहते हैं।'' तथा "हिंदी में 'आध्यात्मिक साहित्य' का एकदम अभाव न होने पर भी वह कदाचित् पर्याप्त नहीं। छायावाद से उसकी अभिवृद्धि अवश्यम्भावी है।'' उनके अनुसार छायावादी कविता "मन-बुद्धि से परे एक अज्ञात प्रदेश में ले जाती है।'' इसके अलावा भी मुकुटधर पाण्डेय ने स्थान-स्थान पर छायावाद की विलक्षण अभिव्यंजना, भाषा के असामान्य प्रयोग, अस्पष्टता आदि गुणों का संकेत दिया है।

छायावाद में रहस्यवादी तत्वों की व्याख्या-पुनर्व्याख्या का यह क्रम जयशंकर प्रसाद के चिंतन में आगे बढ़ा। उन्होंने भी छायावाद की विचार-पद्धति को रहस्यवाद ही माना पर उसकी व्याख्या शक्ति के रहस्यवाद के रूप में कर दी। शुक्ल जी जिसे मध्ययुगीन संतों के साम्प्रदायिक रहस्यवाद का आधुनिक संस्करण मानते थे, प्रसाद ने उसे 'सौंदर्य लहरी' में वर्णित शक्ति के रहस्यवाद से जोड़ दिया : "विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।'' ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यह व्याख्या प्रसाद की अपनी रचनाओं के दर्शन की व्याख्या है जिसके प्रति उन्हें आरंभ से ही विशेष मोह था।

छायावाद में आध्यात्मिकता खोजने का यह क्रम एक बार आरंभ हुआ तो कुछ दूर तक चला। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद में रहस्यवाद का प्रयोग व्यापक अर्थ में स्वीकार करते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि अंग्रेज़ी की रोमैंटिक कविता में रहस्यवादी प्रवृत्ति को अत्यंत उदार अर्थ और व्यापक रूप में देखा जाता था। उन कवियों के लिए सत्य और सौंदर्य अभिन्न हो गए थे। इसलिए वहाँ प्रकृति-प्रेम, उसमें आध्यात्मिक सत्ता के भान आदि को रहस्य-वृत्ति के अंतर्गत ही मान लिया गया था। यह रहस्य-वृत्ति साम्प्रदायिक या धार्मिक नहीं थी : "उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। भारतीय परंपरागत आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।'' वाजपेयी जी का मानना था कि छायावाद "किसी साम्प्रदायिकता या साधना परिपाटी का अनुगमन नहीं करता।'' छायावाद की आध्यात्मिकता की विशिष्टता यही है कि वह न किन्हीं सीमा-निर्देशों से बँधती है और न ही भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबंध स्वीकार करती है।

शुक्ल जी ने छायावाद में साम्प्रदायिक रहस्यवाद की बात कहकर बाद के आलोचकों को इस शब्द-मात्र के प्रति इतना आशंकित कर दिया कि वे छायावाद में प्राकृतिक रहस्य-भावना को स्वीकार करके भी रहस्यवाद से उसका भेद निरूपित करते रहे। रहस्यानुभूति आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक हो सकती है। छायावाद रहस्योन्मुख होते हुए भी इसी धरातल की आध्यात्मिक अनुभूति है, यह न कहकर, छायावाद और रहस्यवाद के बीच भेद करके चलने की प्रवृत्ति ही अधिक लोकप्रिय हुई। इस प्रसंग में प्रसाद की आलोचना करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा: "प्रसाद जी ने व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्य दृष्टि

(रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया। किंतु मैं इस अंतर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योंकि इसने दो विशेष पृथक-पृथक काव्यशैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौंदर्य-बोध एक सार्वजनीन अनुभूति है, यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है फिर भी यह प्रत्येक क्षण रूढ़ होने की संभावना रखती है। इसमें इंद्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नहीं है। यह कदम-कदम पर धर्म के कटघरे में बंद होने की अभिरुचि रखती है।''

छायावाद के मर्मी आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी दोनों में अंतर किया - ''छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, तो दूसरे में अलौकिक।''

बाद के आलोचकों को रहस्यवाद शब्द के निषेध की आवश्यकता ही इसलिए प्रतीत हुई क्योंकि शुक्ल जी ने उसे धर्म-संवलित मध्ययुगीन अर्थ में प्रयुक्त किया था। शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'रहस्यवाद' शब्द को संशोधन के साथ स्वीकार किया, "वर्तमान युग में भावना द्वारा जिस रहस्यवाद की सृष्टि हो रही है, वह भी एक निगूढ़ निर्विकार, परम चेतन की ओर लक्ष्य तो रखती है, किंतु वह धर्ममूलक नहीं, कला (सौंदर्य) मूलक है। '' कवि को वे इस रहस्यवाद की अनुभूति "भावना के द्वारा'' मानते हैं।

महादेवी वर्मा इस रहस्यानुभूति की व्याख्या कवित्वमय शैली में सन् 1936 में पहले ही कर चुकी थीं : "जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नताओं में कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व को लेकर जाग उठा। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।''

छायावाद की गीत-सृष्टि में बसे 'नए रहस्यवाद' को महादेवी ने अपने ढंग से समझाया : "उसने परा विद्या से अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह संबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्क बना सका।'' महादेवी की इस व्याख्या को अधिक से अधिक उनकी कविताओं पर लागू किया जा सकता है। इसके अलावा उनके गीतों की 'अपार्थिवता' और 'अलौकिकता' भी बराबर प्रश्नों के घेरे में रही है। इसीलिए परवर्ती आलोचकों में इस रहस्यवादिता पर सदा संदेह बना रहा।

अज्ञेय ने छायावाद की इस प्रवृत्ति को "भावों को अध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने की प्रेरणा'' कहा और डॉ. नगेन्द्र ने कहा कि "छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार की जिज्ञासाएँ हैं, जो छायावाद के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गई हैं। परंतु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन और आरंभ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।''

सुमित्रानंदन पंत ने तो रहस्यवाद के प्रश्न मात्र को छायावाद के संदर्भ में अनुचित माना - "मेरे विचार में उस युग की पुष्कल बहुमुखी काव्य-सृष्टि को सामने रखते हुए छायावाद पर रहस्यवादी दृष्टि से विचार करना मात्र अतिरंजना है और युग की मुख्य काव्य-प्रवृत्ति पर एक गलत मानदंड का प्रयोग करना है। मध्ययुगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्म-ब्रह्म और आत्म-परिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्व-जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए।''

यह सही है कि छायावाद बहुमुखी काव्य-सृष्टि है और उसका केंद्रीय भाव रहस्यवाद नहीं है। परंतु रहस्योन्मुखी वृत्ति छायावाद की विशेषताओं में से एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

जब हम छायावाद की व्युत्पत्तिपरक व्याख्याओं की बात करते हैं तो देखते हैं कि जयशंकर प्रसाद द्वारा की गई व्याख्या सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है। उन्होंने यह व्याख्या करते हुए विशेष रूप से प्राचीन परंपरा से उसका संबंध जोड़ने का प्रयास किया।

जयशंकर प्रसाद ने यह सिद्ध किया कि 'छाया' शब्द का प्रयोग अभिव्यंजना की विशिष्ट भंगिमा और अर्थ-गरिमा के लिए वक्रोक्ति, ध्वनि और सिद्धांतों में पहले भी होता रहा है। समकालीन काव्य के लिए इस शब्द का प्रयोग परंपरा का पुनराविष्कार मात्र है। प्रसाद जी ने व्युत्पत्यर्थ से संगति बैठाकर छायावादी काव्य-प्रवृत्ति के लिए इस शब्द के प्रयोग का औचित्य बताते हुए उसे परंपरा से जोड़कर शास्त्रसम्मत होने का गौरव प्रदान किया। इसके अलावा उन्होंने इस शब्द को काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं से जोड़ दिया जो उनकी समझ में अधिक प्रासंगिक था।

प्रसाद जी के अनुसार प्राचीन काव्यशास्त्र में 'छाया' शब्द का प्रयोग अनुभूति और अभिव्यक्ति की विशेष गरिमा के लिए किया गया था। कुंतक ने उसे 'वक्रता की उद्‌भासिनी' कहा और "ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुंदरता से किया।" यह आंतर अर्थ-वैचित्र्य काव्य में उसी प्रकार वर्तमान रहता है जिस प्रकार मोती के भीतर आब या पानी। प्रसाद जी मोती के बीच इस लावण्य को 'छाया की जैसी तरलता' कहते हैं।

हिंदी में जब "बाह्य उपाधि से हटकर अंतर हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ" तो उसने अभिव्यंजना की नई भंगिमाओं की अपेक्षा की। इस संबंध में प्रसाद जी का निष्कर्ष है : "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर-स्पर्श करके भव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है।" कहने का अर्थ यह है कि वह काव्य जो केवल बाह्य सौंदर्य का वर्णन कर करके एक विशेष भंगिमा और वक्रता से आंतर सौंदर्य का उद्‌घाटन करे वही आंतरस्पर्शी रम्यच्छाया का अभिव्यंजक काव्य छायावाद है।

15.4.2 स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह

छायावाद की विषय-वस्तु, विचार-सरणी अथवा अभिव्यंजना शैली की एक या अधिक प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके जो अन्य परिभाषाएँ प्रस्तावित की गईं उनमें एक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक प्रचलित परिभाषा में उसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया। इस परिभाषा को सूत्रबद्ध कर प्रचलित करने का श्रेय डा. नगेन्द्र को दिया जाता है। 'सुमित्रानंदन पंत' शीर्षक से सन् 1939 में लिखी गई अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक में ही उन्होंने कहा था : "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग, रूढ़ि आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य में बंधनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना का विद्रोह।"

बाद में 'आधुनिक हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ' (1951) में संकलित निबंध 'छायावाद' में इस परिभाषा को उन्होंने संशोधित कर दिया : "जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं ने भाव (सौंदर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।" इस वक्तव्य में 'विद्रोह', 'आग्रह' हो गया जिसे गांधीवादी अहिंसा का प्रभाव समझा जा सकता है।

द्विवेदी युग की कविता को स्थूल-रूप का काव्य कहकर, उसके विरुद्ध छायावाद को सूक्ष्म चेतना के काव्य के रूप में प्रस्तावित कर दर्शन की दृष्टि से उसे गांधीवाद से जोड़ने का प्रयत्न शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी किया : "छायावाद का अभ्युदय-काल सन् 30 के राष्ट्रीय आंदोलन का समय है। ऐसे समय नवीन हिंदी-कविता (छायावाद) में राष्ट्रीय भावों के बजाय अदृश्य सूक्ष्म भावनाओं का दर्शन मिलना विरोधाभास-सा लगता है। किंतु छायावाद में जो एक पुरातन दार्शनिकता है वह सन् 20 के राष्ट्रीय आंदोलन के पार्थिव प्रयत्नों में भी एक भक्तिकालीन दार्शनिक चेतना थी - गांधीवाद के रूप में। ऐसे समय में जबकि गांधीवाद की भाँति छायावाद भी एक सूक्ष्म चेतना लेकर चला था, द्विवेदी-युग का साहित्य वस्तुजगत को लेकर ही प्रकट हुआ था, फलतः राष्ट्रीय आंदोलन के स्थूल रूप का रेखांकन उसके लिए स्वाभाविक था।"

स्थूल की प्रतिक्रिया की बात छायावाद के आलोचक ही नहीं कवि भी कर चुके थे। महादेवी वर्मा अपने छायावाद-संबंधी लेख में विस्तार से अपना मत प्रस्तुत कर चुकी थीं : "स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियम-शृंखलाओं से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन-नवीन रेखाओं में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।" महादेवी इस संबंध में सावधान रहीं कि सूक्ष्म का अर्थ यथार्थ-विरोधी या अवास्तविक न लगा लिया जाए। अत: जब "सूक्ष्म के संबंध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया" तो उन्हें स्थूल के विषय में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई - "छायावाद की सौंदर्य सृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी। अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है।" महादेवी को इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई क्योंकि उनकी परिभाषा में प्रयुक्त 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्द न केवल व्याख्या-सापेक्ष हैं और इनकी एक से अधिक व्याख्याएँ संभव हैं बल्कि ये प्राय: परस्पर-विरोधी रूप में ग्रहण किए जाते हैं जबकि महादेवी के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म परस्पर पूरक हैं, इसलिए "जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतना भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। उनके अनुसार स्थूल यथार्थ है और सूक्ष्म आदर्श। महादेवी ने स्थूल की तुलना में सूक्ष्म के आग्रह से बात आरंभ की और अंतत: दोनों के बीच विवेकसम्मत संतुलन पर खत्म की।

छायावाद की इस परिभाषा को भी निर्विवाद स्वीकृति नहीं मिली। दरअसल जब छायावाद को स्थूल के प्रति विद्रोह कहा गया तो स्वभावत: स्थूल शब्द से प्राय: वास्तविकता, यथार्थ या मांसलता का अर्थ ग्रहण किया गया। इसीलिए प्रगतिवाद के मूर्धन्य आलोचक डा. रामविलास शर्मा ने एक ओर निराला की प्रसिद्ध कविता 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली' की मांसलता को सूक्ष्मता के विरुद्ध प्रस्तुत किया और दूसरी ओर कहा कि : "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।" अर्थात् वे छायावाद को अमांसल, अतींद्रिय, अवास्तविक और यथार्थ-विरोधी काव्य न मानकर सामंती मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह का, स्वातंत्र्य का काव्य मानते थे।

सुमित्रानंदन पंत ने इस परिभाषा में तथ्य के एक अंश को निहित स्वीकार करके भी छायावाद को अधिक से अधिक स्थूल का सूक्ष्म में रूपांतर माना - "पर इससे भी छायावाद के अर्थ का पूर्णत: समाधान नहीं होता। वास्तव में छायावाद स्थूल के प्रति विद्रोह न कर न उसका संस्कार या रूपांतर ही कर नए मूल्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करता है।" पंत जी के अनुसार छायावाद की मूल दृष्टि विद्रोही न होकर स्थापनधर्मी थी और इस प्रकार उसमें केवल निषेध न होकर विधान भी था। वह कोरी प्रतिक्रिया नहीं, स्वत:स्फूर्त क्रिया थी : "इस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से अधिक आग्रह छायावाद में नवीन जीवन-सौंदर्य के मूल्य तथा भाव-सम्पद की स्थापना के ही प्रति रहा है, वैसे भी पिछली और नई वास्तविकता के लिए स्थूल और सूक्ष्म का उपयोग अर्थ-व्यंजकता की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता।"

इन परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के अतिरिक्त छायावाद को शैली की एक पद्धति के रूप में परिभाषित करने का प्रयास भी लगभग छायावाद के आरंभ के साथ ही किया जाने लगा था। इसका पहला आभास सुकवि किंकर महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक निबंध में मिलता है ('सरस्वती' मई, 1927)। छायावाद की कविताओं में उन्हें मिस्टिसिज़्म अर्थात् "आध्यात्मिक रहस्य नहीं दिखाई पड़ा।" उन्होंने छायावाद के बारे में कहा : "छायावाद से लोगों का क्या मतलब है कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कहना चाहिए।" इस प्रकार उन्होंने 'अन्योक्ति पद्धति' को ही छायावाद स्वीकार किया।

शुक्ल जी भी उनकी इस मान्यता से अप्रभावित न रह सके। छायावाद को उन्होंने भी एक विशेष काव्य-शैली मानते हुए एक तरफ़ तो "प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली" स्वीकार किया, दूसरी ओर आचार्य महावीरप्रसाद के स्वर में स्वर मिलाकर कहा - अत: अन्योक्ति-पद्धति का आलम्बन भी छायावाद का एक

विशेष लक्षण सिद्ध हुआ।'' शुक्ल जी के विचार में इस काव्य का ''प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं।'' वस्तुत: विषयवस्तु के धरातल पर 'रहस्यवाद' से संबंध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगी थीं। क्योंकि ''छायावाद शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के संबंध में भी प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थ में होने लगा।'' अर्थात् छायावाद का अनिवार्य लक्षण रहस्यवाद न रहकर प्रतीकवाद ही हुआ : ''छायावाद का सामान्य अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।''

सुमित्रानंदन पंत ने छायावाद की अन्य प्रचलित परिभाषाओं पर जहाँ विस्तार से विचार किया, वहाँ इस परिभाषा को सिर्फ इतना कहकर चलता कर दिया कि ''छायावादी को लाक्षणिक प्रयोगों अमूर्त उपमानों या अप्रस्तुत विधानों की मात्र चित्र-भाषामयी शैली मानना भी केवल उसके बाह्य कलेवर पर दृष्टिपात करना अथवा उसकी कलाबोध की प्रक्रिया के बारे में निर्णय देकर ही संतोष कर लेना है।''

वस्तुत: छायावाद की ये प्रचलित परिभाषाएँ यथासंभव एक-न-एक पक्ष पर बल देते हुए भी समग्र छायावादी काव्य को घेरने में असमर्थ हैं। इससे प्रमाणित होता है कि छायावाद प्रस्तुत परिभाषाओं से कहीं अधिक व्यापक काव्य-प्रवृत्ति है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इन परिभाषाओं में एक परिभाषा और जोड़ने की नहीं, बल्कि छायावादी काव्य की विशेषताओं एव प्रवृत्तियों को पहचानने की है। यह केवल संयोग नहीं है कि छायावाद की उपलब्ध परिभाषाओं का विश्लेषण और आलोचना करने के बावजूद स्वयं सुमित्रानंदन पंत ने उसकी कोई सूत्रबद्ध परिभाषा प्रस्तावित नहीं की।

इस इकाई में अब तक हमने छायावाद के इतिहास, प्रवर्तन और परिभाषा के संबंध में जो जानकारी आपको दी, आइए संक्षेप में उसकी चर्चा करें।

1) बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी में जिस नवीन काव्य-प्रवृत्ति का उदय हुआ, उसे स्वच्छंद काव्यधारा कहा गया। इस प्रवृत्ति का पहला आभास श्रीधर पाठक की कविता में दिखाई पड़ा।

2) छायावाद इसी स्वच्छंदतावादी (रोमैंटिक) काव्यधारा का उत्तर-विकास है। आचार्य शुक्ल ने यद्यपि अनेक तर्कों के आधार पर स्वच्छंदतावाद से उसे अलग माना और छायावाद के प्रमुख कवियों की गणना स्वच्छंदतावादियों में नहीं की, पर क्रमश: छायावाद को हिंदी की अपनी रोमैंटिक काव्यधारा, स्वच्छंदतावाद का ही विकास माना जाने लगा।

3) छायावाद के आरंभ की ही तरह प्रवर्तन के विषय में भी विद्वानों में विवाद रहा। छायावाद का आरंभ किसी विशेष कवि की विशेष रचना से हुआ, यह तय करना कठिन है। इस कठिनाई का अनुभव करते हुए अंतत : यह स्वीकार किया गया कि छायावाद की प्रेरणा प्रमुख छायावादी कवियों को उस युग की चेतना से स्वतंत्र रूप में मिली। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहल की, और बाकी ने उसका अनुसरण। यही छायावाद के कवियों की कविता में वैविध्य का कारण है।

4) समय-समय पर छायावाद को परिभाषित करने का प्रयत्न छायावाद के कवियों और आलोचकों ने किया। ये परिभाषाएँ दो दृष्टियों से की गईं : व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक। इन परिभाषाओं और व्याख्याओं में सबसे अधिक विवाद छायावाद में रहस्यवाद की स्थिति और स्वरूप को लेकर हुआ। स्वयं छायावाद के कवि पंत ने इस विवाद का लगभग निर्णायक अंत करते हुए कहा कि रहस्योन्मुखता छायावाद की महत्वपूर्ण विशेषता है पर उसका केंद्रीय भाव रहस्यवाद नहीं है।

5) छायवाद की दूसरी सबसे अधिक प्रचलित परिभाषा में उसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया। इस परिभाषा को सूत्रबद्ध डा.नगेन्द्र ने किया किंतु इसका संकेत महादेवी वर्मा पहले कर चुकी थीं।

6) छायावाद को शैली की एक पद्धति मात्र मानने का पहला प्रस्ताव महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया बाद में आचार्य शुक्ल ने भी परिभाषा का विस्तार किया। उन्होंने 'प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली' को ही छायावाद की विशेषता स्वीकार करते हुए अंतत: प्रतीकवाद को उसका अनिवार्य लक्षण मान लिया।

7) इन सभी परिभाषाओं में छायावाद की किसी विशेषता को आधार बनाकर उसे परिभाषा के रूप में सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया गया पर इनमें कोई परिभाषा सर्वांग निरूपण करने में सफल नहीं हो सकी।

15.5 छायावाद की मूल प्रवृत्तियाँ

लम्बे विचार-विमर्श के बाद आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि छायावाद न रहस्यवाद है, न केवल शैली और न ही केवल स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह या आग्रह। इन सब परिभाषाओं में उसकी एक प्रमुख विशेषता की ओर संकेत तो मिलता है पर उसकी समग्रता परिभाषित नहीं होती। छायावाद इनमें संकेतित हर विशेषता से कुछ अधिक है। एक अरसे से शुक्लोत्तर आलोचक इस 'कुछ' को पारिभाषित करने का प्रयास करते आ रहे हैं। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में पं. नंददुलारे वाजपेयी ने कहा - "इस छायावाद को हम पंडित रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्‌गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना है।"

वाजपेयी जी के इस कथन से छायावाद को "अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली" मात्र नहीं माना जा सकता यह तो स्पष्ट होता है, किंतु यह स्पष्ट नहीं होता कि 'नूतन सांस्कृतिक भावना' और 'स्वतंत्र दर्शन की नियोजना' से उनका क्या अभिप्राय है। ये शब्द भी छायावाद की केंद्रीय चेतना को स्पष्ट करने में असमर्थ है। डॉ.देवराज ने भी शुक्ल जी की आलोचना करते हुए यह तो कहा कि वे यह नहीं देख सके कि छायावाद "आधुनिक मनोवृत्ति का प्रतीक है।" पर 'आधुनिक मनोवृत्ति' की स्पष्ट व्याख्या उन्होंने भी नहीं की। इस विचार-क्रम को आगे बढ़ाने का दायित्व सुमित्रानंदन पंत ने ही उठाया। 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में उन्होंने बार-बार इस बात पर बल दिया कि छायावाद 'मूल्य केंद्रिक' काव्य है : "छायावाद केवल अभिव्यंजनात्मक ही नहीं नवीन मूल्यपरक काव्य है।" उन्होंने यथाशक्ति अपने ढंग से उन मूल्यों का निर्देश भी किया, किंतु छायावाद के केंद्रीय मूल्य का निर्धारण वहाँ भी न हो सका। दरअसल मूल्य-केंद्रिकता छायावाद की अनेक विशेषताओं में से एक है और उसकी स्थिति केंद्रीय है। आइए अब हम छायावाद की मूल प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं।

मूल्यकेंद्रिकता

इस विषय पर सबसे पहले छायावाद के प्रथम आलोचक और स्वंय स्वच्छंदतावादी कवि मुकुटधर पाण्डेय के 'कवि-स्वातंत्र्य' शीर्षक निबंध में विचार किया गया। इस निबंध के शीर्षक से संकेत ग्रहण करके कहा जा सकता है कि छायावाद का केंद्रीय मूल्य 'स्वातंत्र्य' ही है। इसी से छायावादी काव्य के जीवन और कविता संबंधी सभी मूल्य निस्सृत होते हैं। इस विषय की पुष्टि तत्कालीन राष्ट्रीय संदर्भ से भी होती है। कवि सुमित्रानंद पंत ने भी 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में मध्ययुगीन धार्मिक मुक्ति-साधना से आधुनिक मुक्ति-भावना को अलगाते हुए लिखा - "छायावादी कवियों के सामने आत्ममुक्ति की धारणा तुच्छ होकर, भाव-मुक्ति तथा लोक-मुक्ति की संभावना अनेक मूल्यों, विचारों तथा भावनाओं में रूप धर कर, उनकी वाणी द्वारा स्वप्न-मूर्त होने का प्रयत्न कर रही थी।" इस प्रकार छायावादी काव्य अपने ऐतिहासिक संदर्भ और राष्ट्रीय परिवेश के अनुरूप बहुमुखी स्वातंत्र्य अथवा मुक्ति की आकांक्षा की अभिव्यक्ति था। निराला का प्रसिद्ध गीत 'वीणावादिनी वर दे' का 'प्रिय स्वतंत्र रव' और 'बादल राग' शीर्षक कविता-शृंखला में विप्लवी 'निर्बंध बादल' का प्रतीक इसी मुक्ति-कामना के उदाहरण हैं। पंत की कविताओं में भी यह मुक्ति-कामना अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। उनकी प्रसिद्ध कविता : "खुल गए छंद के बंध प्रास के रजत पाश" छंद-शास्त्र से मुक्ति का घोषणा है और "झरें जाति-कुल वर्ण-पर्ण धन। अंध नीड़ से रूढ़-रति छन" - सामाजिक रूढ़ियों से। पंत के 'पल्लव' की भूमिका में इसी मुक्ति-चेतना या स्वातंत्र्य की मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा की गई है। उन्होंने काव्य-रचना की रूढ़िगत परिपाटियों का बहिष्कार कर कवि के द्वारा अभिव्यक्ति की युक्तियों के स्वतंत्र चयन के अधिकार की वकालत की है। 'पल्लव' की इस भूमिका को स्वच्छंदतावादी काव्य-दृष्टि के प्रथम घोषणा-पत्र का दर्ज़ा दिया गया है।

वैयक्तिकता

छायावाद को उसके आलोचकों ने व्यक्तिवाद की कविता भी कहा है किंतु इन कवियों का व्यक्तिवाद, व्यक्तिकेंद्रित नहीं है, अपितु वह व्यक्ति की मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है। पंत जी के शब्दों में - ''छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ रहा है, उसमें व्यक्ति, मूल्य का प्रतिनिधि रहा है।'' क्योंकि ''बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नए मूल्य का प्रतीक, नए मूल्य का अंश था। छायावादी कवि की वैयक्तिकता की सही समझ इस नए मूल्य-बोध के संदर्भ में ही संभव है। इस कवि का व्यक्ति जिस नए मूल्य का प्रतीक था उसमें मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वतंत्र-चेता व्यक्तित्व के विकास का प्रयास निहित था। संयुक्त परिवार, जाति और धर्म की नींव पर मध्ययुगीन समाज की जो व्यवस्था इस व्यक्ति ने विरासत में पाई थी, वह उसके संवेदनशील मन को अवरोधक प्रतीत हो रही थी। ऐसे वातावरण में अपनी वैयक्तिकता की माँग स्वतंत्रता का ही एक रूप माना जाएगा। छायावाद इसी अर्थ में विद्रोह का काव्य है कि उसमें एक नई वैयक्तिक चेतना का उदय दिखाई पड़ता है जो अपने रूढ़िबद्ध समाज से मुक्ति की कामना करती है। छायावादी प्रगीतों में व्यापक स्तर पर प्रयुक्त होने वाली 'मैं' शैली केवल शैली नहीं, वरन् व्यक्तित्व के आग्रह का प्रतिफलन है। 'आत्मकथा' इसी प्रवृत्ति का दूसरा आयाम है। यह आकस्मिक नहीं है कि छायावादी कवियों में से अधिकांश ने किसी-न-किसी रूप में आत्मकथात्मक कविताएँ लिखी हैं। आत्मसंयम के आदर्श कवि प्रसाद की 'आत्मकथा' शीर्षक कविता तो विख्यात है ही, निराला ने भी 'सरोज-स्मृति' तथा 'वन-वेला' में अपने जीवन के मार्मिक प्रसंगों का चित्रण करके उसी वैयक्तिकता का आग्रह व्यक्त किया है। महादेवी की समूची गीत-सृष्टि जैसे ''मैं नीर भरी दुःख की बदली'' का व्याख्यान है। जीवन की वास्तविक घटनाओं को उन्होंने रेखाचित्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है।

वैयक्तिकता का यह आग्रह छायावादी शिल्प पर भी अनेक रूपों में अपनी छाप छोड़ता है। इन कवियों का अतिप्रिय प्रतीक 'निर्झर' व्यक्ति की उद्दाम मुक्ति-कामना की ओर संकेत करता है तो 'पथिक' का प्रतीक घर छोड़कर बन-बन भटकने वाले व्यक्ति की व्याकुल-बेचैन मन:स्थिति की सूचना देता है। वैयक्तिकता का आग्रह छायावाद के कवि में आत्म-संकोच और आत्म-केंद्रीकरण की प्रवृत्ति पैदा नहीं करता बल्कि आत्म-प्रसार की प्रेरणा देता है। प्रसाद के 'प्रेम पथिक' के पथिक का लक्ष्य तो अपरिमित है ही।

''इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना। किंतु पहुँचना उसके आगे जिसके आगे राह नहीं।'' 'कामायनी' के मनु का यह कथन : ''वन गुहा - कुंज, मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास'' आत्मप्रसार की कामना की ही अभिव्यक्ति है। ''अबाध-गति मरुत सदृश'' संचरण करने वाले मनु छायावाद के गत्वर व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्ति-मन का ही एक प्रतिरूप है। छायावादी काव्य-सृष्टि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के मूल्य पर केंद्रित एक नई वैयक्तिकता के उदय की सूचना देती है।

विषयिनिष्ठता

वैयक्तिकता के कारण छायावादी काव्य में विषय के स्थान पर विषयी की प्रधानता हुई। छायावाद को जब द्विवेदीयुगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया कहा गया तो उसका यही अर्थ था कि उसमें वस्तुनिष्ठता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता और विषयनिष्ठता की जगह विषयिनिष्ठता का आग्रह था। छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहने का भी एक अभिप्राय यही है। इसी विषयिनिष्ठता के कारण छायावाद की 'छाया' के विरोध में 'प्रकाशवाद' के नाम से एक विनोदपूर्ण वाद भी प्रस्तुत किया गया। छायावाद की विषयिनिष्ठता को लक्ष्य करके 'पुष्करिणी' की भूमिका में सच्चिदानंद वात्स्यायन ने लिखा था- ''विषयीप्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है''। अपने इस कथन की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया - ''छायावादी कवि की व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई । किंतु उनमें सामान्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता थी, सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिंतना की, चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की हो।'' इस विषयिनिष्ठता का प्रतिफलन स्पष्ट रूप से छायावाद के प्रकृति-चित्रण में देखा जा सकता है, जिसमें जड़ प्रकृति पर चेतना के आरोप की ही नहीं, बल्कि मानवीकरण की व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। छायावादी काव्य में प्रकृति का ही नहीं, प्रत्येक वस्तु का चित्रण गहरे भाव संवलित रूप में हुआ है। यहाँ तक कि मनु, श्रद्धा, इड़ा जैसे पौराणिक व्यक्ति-चरित्र भी मनोविकारों के रूप में चित्रित किए गए हैं।

अनुभूति की प्रतिष्ठा

विषयी की प्रधानता के कारण स्वभावत: छायावाद में अनुभूति के महत्व की प्रतिष्ठा हुई। प्रसाद जी ने तो कविता की परिभाषा ही 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' के रूप में की और छायावाद की अन्य विशेषताओं के बीच 'स्वानुभूति की विकृति' पर विशेष बल दिया। काव्य-सृजन के विषय में पंत की कविता-"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान'' तो प्रसिद्ध है ही, महादेवी भी जब गीत को, "व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति के शब्द-रूप'' कहकर परिभाषित करती हैं तो एक तरह से कविता में अनुभूति के महत्व को ही रेखांकित करती हैं। पंत ने 'छाया' की अनेक उपमाओं में से एक उपमा भावुकता भी दी है। हिंदी कविता को छायावाद की वह महत्त्वपूर्ण देन है कि उसने कविता में कोरे वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति का महत्व प्रतिष्ठित किया। यह बात अलग है कि इस प्रयास में छायावाद कभी-कभी भावोच्छ्वास और कोरी भावुकता की रसवर्जिनी सीमा तक चला गया। बाद में छायावाद के पतन के अनेक कारणों में भावों की यह अधिव्यक्ति भी एक कारण बनी।

कल्पनाशीलता

वैयक्तिकता का एक पहलू अनुभूतिप्रवणता है तो दूसरा कल्पनाशीलता, और यह निर्विवाद है कि छायावाद में कल्पना की उड़ान अभूतपूर्व थी। निराला ने कविता को "कल्पना के कानन की रानी'' कहा और प्रसाद ने 'कल्पना' की प्रशंसा में एक पूरी कविता की रचना कर डाली जिसमें कल्पना को 'मनुज-जीवन-प्रान' कहा गया है। पंत जी ने 'पल्लव' की कविताओं को 'कल्पना के ये पल्लव बाल' कहा और काव्य में कल्पना को इस हद तक महत्त्व दिया कि उनका कहना था "कोई भी गंभीर व्यापक तथा महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है।'' (छायावाद : पुनर्मूल्यांकन)। छायावाद के आलोचकों ने प्राय: इस बात को परिलक्षित किया है कि छायावाद में कल्पना की अंतर्दृष्टिदायिनी और सृष्टि-विधायिनी दोनों शक्तियों का भरपूर उपयोग हुआ है। छायावादी कवि के लिए कल्पना उसकी मानसिक स्वतंत्रता का प्रतीक थी। कल्पना के पंखों के सहारे ही वह अपने चारों ओर के संकीर्ण वातावरण से निकलकर मुक्त आकाश में विचरण करने की क्षमता प्राप्त करता था और उसी के सहारे मनोवांछित स्वप्नलोक का निर्माण भी कर लेता था। कल्पना के अतिरेक के कारण ही कुछ आलोचकों ने छायावाद को 'वायवी' कहा और कुछ ने 'वास्तविकता' पर 'बलात्कार'। दरअसल छायावादी कवियों की कल्पनाशीलता का गहरा संबंध स्वतंत्रता की उस चेतना से है जिसे वे मूल्य के रूप में स्वीकार करते थे। इतना निश्चित है कि इन कवियों की कल्पना-शक्ति ने छायावाद के स्वच्छंदतावाद नाम को सार्थक किया।

वेदना की विवृति

छायावाद की कविताओं में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की अधिकता आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि वैयक्तिकता की परिणति वेदना में होती है। 'आँसू' प्रसाद के काव्य का शीर्षक ही नहीं है, पंत ने भी इस शीर्षक की कविता लिखी है और महादेवी का तो सारा काव्य ही जैसे आँसुओं से गीला है। पंत की दृष्टि में यदि "उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान'' तो प्रसाद में भी घनीभूत पीड़ा "दुर्दिन में आँसू बनकर चुपचाप बरसने आई'' और महादेवी ने तो स्पष्ट स्वीकार किया ही है : 'वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास।'' और तो और, विद्रोही निराला भी वेदना से अछूते नहीं हैं। "दु:ख ही जीवन की कथा रही'' यह आत्मस्वीकृति निराला की ही है। ऐसी स्थिति में छायावादी कवियों पर यदि वेदनावादी या वेदनाविलासी होने का आरोप लगाया गया तो कुछ अनुचित नहीं है। पंत ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में इस प्रवृत्ति की अत्यंत तर्कसम्मत व्याख्या की - "बहुत सारी वेदना की अनुभूति उस युग के भाव-प्रवण मन में इसलिए भी थी कि वह उन श्रृंखला की कड़ियों के प्रति जाग्रत था जो समस्त देश तथा समाज की चेतना को अपने दुर्निवार, निर्मम, नृशंस लौह-बंधनों में जकड़े हुए थीं जिन्हें तोड़ने के लिए प्रबुद्ध सामूहिक कर्म तथा संयुक्त सामाजिक संघर्ष करना आवश्यक तथा अनिवार्य था। नए युग के भावमुक्तिकामी, मन की उड़ान भरने वाले, पिंजरबद्ध, व्यक्ति के असमर्थ-पंख उन जीवन-शून्य ठंडे सींकचों के सम्पर्क के कठोर आघात से लहूलुहान होकर कराहती हुई वेदना की स्वरों में गा उठे थे।'' वेदना को छायावादी कवियों ने पीड़ा के अतिरिक्त अनुभूति, सम्वेदना तथा बोध के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है, जैसे **"वेदना के ही सुरीले हाथ से बना यह विश्व''** इत्यादि। किंतु छायावादी काव्यधारा के उत्तरोत्तर विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि वेदना की जो प्रधानता आरंभिक अवस्था में थी वह उत्तरकाल में क्रमश: कम होती गई।

प्रसाद ने यदि दु:खवाद का सर्वथा निषेध करके अंतत: आनंदवाद की प्रतिष्ठा की तो पंत 'गुंजन' में सुख-दुख के बीच संतुलन खोजते हुए पाए गए : **"दुख-सुख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरन।"**। 'यामा के अंतिम याम तक पहुँचते-पहुँचते महादेवी की 'नीरजा' के आँसू सूख चले और निराला की 'राम की शक्ति पूजा' का अंत **"होगी जय होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन"** में व्यक्त आत्मविश्वास से हुआ। वेदना के आवेग और कराहटों से आरंभ करके इस कविता की परिणति सुख-दुख के सामरस्य या कम से कम संतुलन में हुई।

प्रेमानुभूति

छायावाद को आधुनिक काल की सबसे सशक्त प्रेम-कविता कहा जाता है। आचार्य शुक्ल ने आरंभ में ही इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए छायावादी कविता को 'अधिकतर प्रेम गीतात्मक' कहा था। यह सही है कि छायावाद में जीवन के अन्य क्रियाव्यापारों एवं समस्याओं का समावेश करते हुए भी प्रेम को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। द्विवेदीयुग के नैतिक शुद्धतावादी काव्य की तुलना में इस प्रेमाधिक्य ने निस्संदेह शुरू में विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया, किंतु संपूर्ण काव्य-परंपरा के क्रम में छायावाद की यह प्रवृत्ति अतिरंजित नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि कविता के इतिहास पर नज़र डाली जाए तो इसमें संदेह नहीं रहेगा कि प्रेम की प्राय: सर्वत्र और सदैव प्रधानता रही है। शास्त्र में भी श्रृंगार के रस-राजत्व को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। किंतु छायावाद में प्रेमानुभूति की अधिकता से कहीं अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली विशेषता प्रेम के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण है। छायावाद के आलोचकों में इस बारे में व्यापक सहमति है कि छायावाद का प्रेम प्राय: अशरीरी है और उसमें रीतिकालीन भोगवादी दृष्टि के स्थान पर मानसिक रागात्मकता की प्रतिष्ठा की गई है। रीतिकालीन श्रृंगारिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो द्विवेदीयुगीन काव्य में भी दिखाई पड़ी थी, परंतु अपने नैतिक-शुद्धतावादी आग्रहों के कारण जहाँ द्विवेदी युग का काव्य श्रृंगार के लगभग बहिष्कार की सीमा का स्पर्श करने लगा था, वहाँ छायावाद ने वैसा निषेधपरक कट्टर दृष्टिकोण नहीं अपनाया। शुद्धतावाद के स्थान पर छायावाद ने आदर्शवाद का रास्ता अपनाया और प्रेम का उन्नयन करने का प्रयास किया। मध्ययुगीन विलास-चेष्टाओं का स्थान छायावादी कविता में रागात्मकता और पावनता ने ले लिया। प्रेम का यह स्वरूप हिंदी कविता में अब तक अपरिचित और आधुनिक था। प्रेम को उसके मध्ययुगीन स्वरूपों और अनुषंगों से मुक्त करना छायावाद की स्वातंत्र्य भावना का ही प्रतिफलन है। छायावादी कवियों ने वैयक्तिक प्रेम की अनेक मनोदशाओं के सूक्ष्म चित्रण तो किए ही, इसके अलावा प्रेम नामक भाव को उदात्त रूप देकर उसे स्वतंत्र रूप से काव्य का विषय बना दिया। छायावाद की कविता प्रेम की अनुभूति को नए रूप-रंगों में प्रस्तुत करने के कारण तो ध्यान आकर्षित करती ही है, इससे अधिक इस बात के कारण महत्वपूर्ण है कि उसमें प्रेम एक गंभीर जीवन-दर्शन के रूप में प्रकट हुआ ।

सौंदर्यबोध

सौंदर्य की अभिव्यक्ति कविता की सामान्य विशेषता मानी जाती है पर छायावादी कविता का सौंदर्यबोध अपनी सामान्यता में नहीं, विशिष्टता में ध्यान आकर्षित करता है। पंत जी के अनुसार-"छायावाद में नए मूल्य ने सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौंदर्य-बोध में पाई, इसलिए सौंदर्यबोध उस युग के काव्य की सबसे मौलिक तथा प्रमुख देन रही।" छायावादी कवियों की दृष्टि निश्चित रूप से सौंदर्यवादी थी, इसमें संदेह नहीं। इतना ही नहीं कि छायावादी कवियों की दृष्टि अखिल विश्व से सौंदर्य-चयन की ओर थी, बल्कि वे जीवन को भी सुंदर बनाने के अभिलाषी थे। छायावाद के प्रसंग में, कलावाद के जिस प्रभाव की चर्चा प्राय: की गई है, वह और किसी रूप में हो न हो, सौंदर्यवाद के रूप में अवश्य प्रतिफलित हुआ है। 'सत्यं, शिवं, सुंदरं' में से छायावाद की दृष्टि 'सुंदरम्' पर ही विशेष जमी, यहाँ तक कि वहाँ 'सत्यं' और 'शिवं' भी 'सुंदरं' के रूप में ही गृहीत हुए। इस पथ पर चलते हुए छायावादी कवि क्रमश: प्रकृति-सौंदर्य से चलकर मानव-सौंदर्य तक पहुँचे। पंत के शब्दों में "**सुंदर हैं विहग सुमन सुंदर, मानव तुम सबसे सुंरतम।**" किंतु छायावाद की सौंदर्य-दृष्टि भी विशिष्ट थी। यहाँ एक ओर सौंदर्य "**कनक किरण के अंतराल में लुक-छिपकर चलता**" दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर वह 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' प्रतीत होता है। इस प्रकार छायावाद की सौंदर्य दृष्टि में जहाँ एक ओर स्वप्न-लोक का कुहासा है वहाँ दूसरी ओर चेतना की उज्ज्वलता। सौंदर्य उनके यहाँ एक प्रकार के रहस्य से मंडित है। इन कवियों ने सौंदर्य को उदात्तता, भव्यता, दिव्यता आदि गुणों से विभूषित करके उसे काव्य में एक नए मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित

किया। यह बात अलग है कि बाद में इस सौंदर्य-दृष्टि पर एकांगिता का आरोप लगाते हुए प्रायः इसकी आलोचना की गई।

प्रकृति की ओर वापसी

हिंदी काव्य-परंपरा में प्रकृति की भूमिका आरंभ से ही विविध रूपों में रही है, किंतु उसे जो स्थान छायावाद में मिला, वह अभूतपूर्व है। भक्त कवियों की कविता में, प्रकृति, प्रायः उनके भगवान की लीला-भूमि से अधिक महत्व नहीं पा सकी, और रीतिकाल के कवि उसका उपयोग सहेट-स्थल से आगे जाकर नहीं कर सके। भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों के बारे में आचार्य शुक्ल का कहना था कि उनका मन प्रकृति की अपेक्षा "दस तरह के लोगों में उठने-बैठने में अधिक रमता था"' स्वच्छंदतावादी कवि आरंभ में निस्संदेह प्रकृति की ओर आकृष्ट हुए किंतु अनुभूति की यथेचित गहराई और कल्पना की अपेक्षित क्षमता के अभाव में वहाँ भी प्रकृति के चित्र साधारण स्तर से ऊँचे नहीं उठ सके। इनसे भिन्न छायावादी कवियों ने उषा, संध्या, रात्रि और चाँदनी जैसे चिर-परिचित प्रकृति-रूपों को भी नई अंतर्दृष्टि से देखा। इसीलिए पंत की 'प्रथम रश्मि' और 'चाँदनी', निराला की 'संध्या सुंदरी' प्रसाद की 'मंदिर माधवी यामिनी' जैसी बहुत सी कविताएँ हिंदी कविता में छायावाद से पहले दुर्लभ हैं। प्रकृति के पूर्व परिचित दृश्यों में नवीन सौंदर्य का उद्घाटन तो छायावादी कवियों ने किया ही, इसके अलावा उन्होंने वन्य प्रकृति के सुदूर दृश्यों की ओर भी दृष्टि डाली। पंत के पार्वतीय सौंदर्य के चित्र और प्रसाद की 'कामायनी' में चित्रित प्रलयकालीन समुद्र के विराट दृश्यचित्र हिंदी काव्य की अमूल्य निधि हैं। प्रकृति के खंड-चित्रों के अलावा छायावादी कवियों ने शायद पहली बार एक विराट सत्ता के रूप में प्रकृति की अवधारणा की और प्राकृतिक वस्तुओं के स्थान पर समग्र प्रकृति को काव्य का विषय बनाया। उन्होंने प्रकृति को जैसे एक व्यक्तित्व प्रदान किया। इसके साथ ही प्राचीन सांस्कृतिक अनुषंगों से युक्त तामरस, शेफाली, शिरीष, यूथिका जैसे फूलों के भावचित्रों के द्वारा इन्होंने प्रकृति-चित्रण को सांस्कृतिक आयाम देने का प्रयास किया। छायावादी कवियों के इस प्रकृति-प्रेम के कारण कभी-कभी उन पर पलायन का आरोप भी लगाया गया, किंतु उनके प्रकृति-प्रेम के मूल में सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति और नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा अधिक थी, पलायन नहीं। प्राकृतिक रूपों और व्यापारों में उन्हें अपने लिए 'मौन निमंत्रण' और कोलाहल की अवनि से मुक्ति का मार्ग दिखाई पड़ता था। प्रकृति उनके लिए या तो प्रेरणा का स्रोत थी या विश्रामस्थली, पलायन भूमि नहीं। प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' इन कवियों पर पलायन के आक्षेप को पुष्ट करने के लिए अक्सर उद्धृत की जाती है। इस कविता का ध्यान से विश्लेषण करने पर, यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसमें जीवन के परस्पर विरोधी व्यापारों के बीच समरस भूमि को पाने की आकांक्षा और बेचैनी है, जीवन से पलायन नहीं। कुल मिलाकर हिंदी का छायावाद अन्य रोमांटिक आंदोलनों की तरह प्रकृति की आदिम गोद में लौटने की ओर उन्मुख नहीं है, बल्कि उसमें मानव-जीवन को प्रकृति के सौंदर्य से मंडित करने की मानवीय आकांक्षा है।

राष्ट्रीय चेतना, लोकमंगल और मानव करुणा

छायावादी कवियों पर बहुत दिनों तक यह आरोप लगाया जाता रहा कि जिस समय देश, औपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के संग्राम में संलग्न था, ये कवि राष्ट्रीय प्रश्नों से उदासीन और विरत होकर क्षितिज के पार ताक-झाँक करते रहे। यह वस्तुतः छायावादी काव्य को एकांगी दृष्टि से देखने का परिणाम है, वरना इन कवियों ने ओजस्वी स्वर में जागरण-गीत भी कम नहीं लिखे। प्रसाद जी की **'हिमालय के आंगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार'** और **'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती'** जैसे गीत, निराला की **'भारति जय विजय करे'**, और **'महाराजा शिवाजी के नाम पत्र'** जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि 'स्वातंत्र्य' छायावादी कविता का केंद्रीय मूल्य था। उसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति स्वातंत्र्य से आगे बढ़कर राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आकांक्षा के रूप में होती, यह स्वाभाविक था। किंतु छायावाद की राष्ट्रीय चेतना केवल राष्ट्रगीतों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि अपनी सूक्ष्म और सांकेतिक प्रकृति के अनुरूप अन्य कविताओं में भी अंतर्धारा के रूप में व्याप्त रहकर व्यक्त होती रही। उदाहरण के लिए निराला के 'तुलसीदास' में देश को पराधीनता से मुक्त कराने का संकल्प है और 'राम की शक्ति पूजा' के पौराणिक प्रतीक भी देश के उद्धार के लिए नैतिक शक्ति की साधना का संदेश देते हैं।

छायावाद के कवियों की स्वातंत्र्य-भावना समाज में व्याप्त विषमताओं के विरुद्ध लोक-मंगल और मानव-करुणा के रूप में भी व्यक्त हुई है। यह भावना सामान्यत: सभी छायावादी कवियों में न्यूनाधिक रूप में मिलती है किंतु इसकी सबसे अधिक मुखर अभिव्यक्ति निराला के काव्य में हुई है। निराला की करुणामय दृष्टि 'भिक्षुक' और 'विधवा' पर ही नहीं पड़ती, बल्कि 'बादल राग' में उन्होंने 'जीर्ण बाहु शीर्ण शरीर अधीर कृषक में कृषक के क्षुब्ध तोष' को भी वाणी दी और 'शेष-श्वास, मूक-भाष प्रहार पाते मानव समुदाय' के अधिकारों की भी चिंता की। इस प्रकार छायावादी काव्य में, मानव-करुणा और लोक-मंगल से प्रेरित सामाजिक-चेतना भी परिलक्षित होती है। यह कविता जीवन-विमुख नहीं जीवनोन्मुखी कविता है।

विश्वमानवतावाद

छायावाद की कविता में राष्ट्रीय-चेतना तो है, अंध राष्ट्रवाद नहीं। राष्ट्र के स्वाधीनता-संग्राम से संबद्ध होते हुए भी ये कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वमानवतावाद से प्रेरणा प्राप्त कर अपने काव्य में विश्व-दृष्टि की ही अभिव्यक्ति करते रहे। पंत जी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में बार-बार इस बात पर बल दिया कि छायावाद विश्व-दृष्टि से अनुप्राणित था और यही उसकी आधुनिकता थी। प्रसाद की 'कामायनी' में अखिल मानव-भावों के सत्य को विश्व के हृदय पटल पर अंकित करने की कामना व्यक्त हुई और निराला ने 'सम्राट अष्टम एडवर्ड' के प्रति कविता लिखकर यह प्रमाणित कर दिया कि छायावाद के कवि की दृष्टि देश, वर्ण, धर्म आदि की सभी दीवारों को तोड़कर मानवीय संबंधों और संवेदना के नाते किसी भी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति रखने को प्रस्तुत है। निराला के लिए तो :

मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का वह निष्कलंक।

मध्ययुगीन काव्य से छायावाद की मनोभूमि, इसी विश्व-दृष्टि के कारण भिन्न ही नहीं व्यापक और विराट भी है। यही उसे आधुनिक भी बनाती है।

सांस्कृतिक गरिमा

प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह छायावाद की कविता का प्रमुख सरोकार था। लेकिन इसके बावजूद समकालीन नवजागरण की चेतना के अनुरूप अपनी सांस्कृतिक परंपरा के पुनरुत्थान की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया। अपनी विरासत से ग्रहण और त्याग के विषय में इन कवियों का अपना विवेक कारगर हुआ। छायावाद की सांस्कृतिक चेतना, द्विवेदी युग से अधिक परिमार्जित और सूक्ष्म थी। निराला की 'यमुना के प्रति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' तथा प्रसाद की 'कामायनी' से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों को ग्रहण करते हुए भी छायावादी कवियों ने उनका उपयोग केवल अतीत की पुनरावृत्ति और स्मरण करने के लिए नहीं किया अपितु उन्हें समकालीन आशयों और अर्थ व्यंजनाओं से संपृक्त कर उनका पुनराविष्कार भी किया। यह पुराख्यानों के भावमूलक ग्रहण और संप्रेषण की दृष्टि थी। कालिदास का 'मेघदूत' द्विवेदी युग के कवियों ने केवल पढ़ा किन्तु छायावादी कवियों के लिए सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन ने लिखा है - "छायावादी कवि ने कहानी मानों पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐंद्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गई प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रह गया। यहाँ भी नए परिचय का प्रश्न नहीं था, नई दृष्टि का ही प्रश्न था। इसीलिए कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात की गई।" इस प्रकार स्वातंत्र्य भावना से प्रेरित होकर छायावाद ने परंपरा की रूढ़ियों से अपने आपको मुक्त कर नए सिरे से परंपरा का पुनराविष्कार किया और फिर आधुनिक संदर्भ में उसका पुनः सृजन किया और उसे नई अर्थच्छायाओं से संवलित कर प्रस्तुत किया। परिणामत: छायावाद के आधुनिक-बोध को एक नया सांस्कृतिक आयाम मिल गया।

छायावाद के विशिष्ट अभिव्यंजना-कौशल को उसकी सबसे बड़ी देन या उपलब्धि समझा जाता है। यह कौशल वस्तुत: छायावाद के केंद्रीय मूल्य-स्वातंत्र्य का प्रथम साधन है। स.ही.वात्स्यायन के अनुसार : "छायावाद के सम्मुख पहला प्रश्न अपने काव्य के अनुकूल भाषा का - नई संवेदना के नए मुहावरे का था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया।'' द्विवेदी युग में खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसके परिमार्जन और परिष्कार का कार्य भी सम्पन्न हो चुका था किंतु उसमें निहित काव्यात्मक संभावनाओं को पहचानकर इसका उपयोग करने का कार्य शेष था। यह कार्य छायावादी कवियों के हाथों ही सम्पन्न हुआ, साथ ही काव्य-भाषा में व्यंजकता की वृद्धि हुई। मुकुटधर पांडेय ने छायावाद की विशेषताओं का बयान करते हुए लिखा था - "उसका एक मोटा लक्ष्य यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कहीं-कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है, पर मतलब कुछ और ही निकलता है। इसमें ऐसा कुछ जादू भरा है - अतएव यदि यह कहा जाए कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। तात्पर्य यह है कि छायावाद के शब्द प्रतीक होते हैं और ये जादू का-सा असर पैदा करते हैं। इसके लिए कवि शब्द को उसके प्रचलित अर्थ से अलग करके नए अर्थ से युक्त करता है।'' यह तथ्य है कि जो शब्द काव्य में पहले कभी साथ-साथ नहीं देखे गए थे वे छायावाद में पहली बार नियोजित हुए - और इस प्रकार नियोजित हुए कि उनसे एक नया अर्थ ध्वनित होने लगा। इसी को दूसरे शब्दों में, शब्द और अर्थ का नए संबंधों में आबद्ध होना कहते हैं। उदाहरण के लिए 'तुतला उपक्रम', 'तुमुल तम', 'नील झंकार', 'मूर्च्छित आतप'। शास्त्रीय भाषा में जिसे विशेषण-विपर्यय अलंकार के रूप में अति सरलीकृत ढंग से समझाया जाता है वह रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वस्तुत: भाषागत सृजनात्मक स्वतंत्रता का सूचक है, और छायावादी कवियों ने इस दिशा में अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया। इस दृष्टि से पंत जी का यह कथन सर्वथा संगत है कि "शब्दों में नए अर्थ, अर्थों से नई चेतना, चेतना से नया कलाबोध और कलाबोध से नई सौंदर्य-भंगिमा हृदय को स्पर्श कर नए रस का संचार करने लगी।''

छायावाद ने भाषा की अभिव्यंजना-क्षमता बढ़ाने के लिए बिम्ब-विधान का भी आश्रय लिया जिसे शुक्ल जी ने 'लाक्षणिक मूर्तिमत्ता' तथा पंत जी ने 'चित्रभाषा' कहा है। बिम्ब रचना में छायावादी कवियों का सबसे बड़ा साधन सृष्टि विधायनी कल्पना थी। इसीलिए उनके बिम्बों में मौलिकता और ताज़गी है।

छंद प्रयोग की दृष्टि से भी छायावादी कवियों का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है। इन कवियों ने द्विवेदी-युगीन अनेक विकल्पों के बीच से खड़ी बोली हिंदी की प्रकृति के अनुरूप कुछ छंदों का चुनाव कर प्रगीत-रचना के लिए उन्हें परिनिष्ठित रूप दिया, साथ ही कविता में संगीतात्मकता की वृद्धि की। इसके अलावा छायावाद को हिंदी में मुक्त छंद के प्रवर्तन का श्रेय भी दिया जाता है जिसके पुरस्कर्ता मुख्य रूप से निराला हैं।

छायावाद की प्रेरक परिस्थितियाँ, उसकी मूल दृष्टि, संवेदना और शिल्प की विशेषताओं को सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है : "उस युग का नवीन काव्य-संचरण जो कि एक नए जीवन-मूल्य की खोज में था, वह अपने प्रथम उत्थान में अपनी आदर्शोन्मुखी अभिव्यंजना-शैली के अंतर्गत उदात्त कल्पना-वैभव, मौलिक सौंदर्य-बोध, अंतर्मुखी प्रतीक बिम्ब-विधान, वस्तुजगत का भावोन्मुखी सूक्ष्मीकरण तथा भाव-संवेदनों का वस्तून्मुखी स्थूलीकरण, प्रकृति-चित्रण तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा शब्द-शक्ति की सम्प्रेषणीयता संबंधी समृद्धि तथा नवीन छंदों की उन्मुक्त स्वर-लय-झंकृति आदि अनेक रमणीय रसात्मक-तत्वों को लेकर अभूतपूर्व काव्य-ऐश्वर्य के साथ अवतरित हुआ।''

15.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद अपने जाना कि छायावाद की प्रेरणा उस युग के कवियों को उस युग की चेतना से स्वतंत्र रूप से प्राप्त हुई है। साथ ही छायावाद की उपलब्ध परिभाषाओं पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो गया कि, ऐसी कोई एक परिभाषा नहीं है जो उसकी विशेषताओं पर उनकी समग्रता में प्रकाश डालती हो। वे सभी एकांगी है।

छायावाद मूलतः मूल्य केंद्रित काव्य माना जाता है और इसका केंद्रीय मूल्य स्वातंत्र्य है। मुक्ति की कामना इस युग के कवियों में व्यापक स्तर पर अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। इन कवियों ने वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति को महत्त्व दिया। वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति को महत्त्व देना हिंदी कविता को छायावाद की महत्त्वपूर्ण देन है। छायावादी काव्य में प्रेम को उसके मध्ययुगीन अनुषंगों से मुक्त कर उसे रागात्मक और अशरीरी पावनता से युक्त करने का प्रयास किया गया। छायावादी कवियों ने प्रकृति को भी एक नई अंतर्दृष्टि से देखा। उन्होंने प्रकृति की अवधारणा एक विराट सत्ता के रूप में की।

छंदों के प्रयोग में भी इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान है। द्विवेदी युगीन अनेक विकल्पों के बीच से अपनी प्रगीत-रचना के अनुरूप छंदों का चयन करके और मुक्त छंद का प्रवर्तन और विकास करके इन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बनाया।

15.7 अभ्यास/प्रश्न

1. छायावाद के प्रवर्तन पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. छायावाद की परिभाषा देते हुए छायावाद और रहस्यवाद के संबंध की चर्चा कीजिए।
3. 'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है' कथन की समीक्षा कीजिए।
4. छायावादी काव्य में 'प्रकृति' की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
5. छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों की सोदाहरण चर्चा कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य उसका उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. डॉ. श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।
4. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिंदी साहित्य, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।
5. डॉ. नगेंद्र (संपादक) : भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली
6. डॉ. रामविलास शर्मा : भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. सुमित्रानंदन पंत - छायावाद : पुनर्मूल्यांकन
8. डॉ. नगेन्द्र (सं.) - हिन्दी साहित्य की वृहत् इतिहास - दशम् भाग
9. प्रो० नामवर सिंह - छायावाद